सामाजिक अध्ययन

सामाजिक अध्ययन

(GENERAL EDUCATION)

(राजस्थान विश्वविद्यालय की त्रिवर्षीय बी. ए. कक्षाओं के प्रथम वर्ष के विद्यार्थियों के लिये)

लेखक

हरबिलास मिश्र एम. ए.

प्राध्यापक, राजनीति विज्ञान विभाग

डूंगर कॉलेज, बीकानेर

वि द्या भ व न

पुस्तक प्रकाशक जयपुर

विद्या भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण

मूल्य पांच रुपये मात्र

प्रभात प्रेस, मेरठ द्वारा मुद्रित

प्रस्तावना

यह विषय त्रिवर्षीय डिग्री कक्षाओं के प्रथम वर्ष के पाठ्यक्रम में स्वीकार किया गया है। सम्भवतः यह अनुभव किया गया है कि कला के विद्यार्थी विज्ञान और विज्ञान के विद्यार्थी कला से बहुत दूर रहते हैं जबकि जीवन में इन दोनों का सानिध्य और सम्पर्क अति आवश्यक है। इसलिए अनेक विश्वविद्यालयों ने 'सामान्य शिक्षा' के अन्तर्गत ऐसे विषयों का चयन किया है जिनका ज्ञान वास्तव में प्रत्येक विद्यार्थी के लिये अनिवार्य सा है। नया विषय होने के कारण प्रतिवर्ष पाठ्यक्रम भी अनुभव के आधार पर परिवर्तित किया जाता रहा है। प्रस्तुत पुस्तक नवीनतम पाठ्यक्रम के अनुसार ही लिखी गई है। यद्यपि इस विषय पर कुछ पुस्तकें प्रकाशित हो गई हैं; किन्तु उनमें कुछ तो पुराने पाठ्यक्रम के अनुसार होने के कारण अधूरी सी रह गई हैं और कुछ पुस्तकों में विषयानुसार ठीक विवेचन का अभाव रहा है। इसी विषय के अध्यापन के समय इन कठिनाइयों का अनुभव करने के पश्चात्, विद्यार्थियों की आवश्यकता को पूरा करने के लिए ही यह पुस्तक लिखी गई है।

वैसे तो परम्परानुसार दो शब्द लिखना अनिवार्य सा हो गया है किन्तु फिर भी पुस्तक की कुछ विशेषताओं की ओर ध्यान आकर्षित करना भी आवश्यक है। यह पुस्तक राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार ही लिखी गई है। इसमें प्रत्येक विषय का सरल भाषा में विवेचन किया गया है और प्रत्येक अध्याय के अन्त में सहायक प्रश्न देकर विद्यार्थियों के लिए विषय बोधगम्य बनाने का प्रयत्न किया गया है।

हम अपने प्रयास में कहाँ तक सफल हुए हैं इसका निर्णय स्वयं पाठक ही करेंगे। फिर भी हमें विश्वास है कि यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिए सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध होगी तथा अन्य पाठकों के लिए भी इसका अध्ययन रुचिकर होगा।

प्रस्तुत पुस्तक को लिखने में हमें जिन महानुभावों का सक्रिय सहयोग मिला है, उनके प्रति आभार प्रकट करना हमारा कर्त्तव्य है। श्री रामप्रसाद जी डण्डोतिया, समाज-कल्याण विभाग, कोटा तथा आदरणीय श्री रामनारायण जी 'मृदुल' कोटा के हम विशेष आभारी हैं जिन्होंने समय-समय पर अपने नवीन सुझाव देकर हमें सहायता दी है।

पुस्तक के प्रकाशक श्री नरेन्द्र जी के प्रति हम सबसे अधिक आभारी हैं जिन्होंने अनुपम लगन और उत्साह के साथ इसके प्रकाशन कार्य को संपादित कर उचित समय पर इसे विद्यार्थियों की सेवा में उपस्थित किया है।

लेखक

विषय सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या
प्रथम	सामाजिक विकास का इतिहास	९
द्वितीय	सभ्यता ग्रौर संस्कृति का विकास	२१
तृतीय	पूर्व ग्रौद्योगिक ग्रार्थिक संगठन का रूप	४३
चतुर्थ	ग्राधुनिक राजनैतिक सिद्धान्त	४८
पांचवां	धर्म ग्रौर दर्शन	५४
छठा	साहित्य के मूल सिद्धान्त	७१
सातवां	भारतीय सभ्यता तथा ग्रार्यों का ग्रागमन	७६
ग्राठवां	वैदिक-काल की संस्थायें	८२
नवां	बौद्ध तथा जैन धर्मों का सामाजिक महत्व	८८
दसवां	भारतीय सभ्यता का स्वर्ण काल	९२
ग्यारहवां	बौद्धिक एवं सांस्कृतिक प्रगति	१००
बारहवां	विदेशों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध	१०५
तेरहवां	तुर्कों की भारतीय विजय ग्रौर इस्लाम का प्रभाव	११५
चौदहवां	मध्यकालीन प्रशासन ग्रौर समाज	१२३
पन्द्रहवां	भारत की समन्वित संस्कृति का विकास	१२८
सोलहवां	मुगल साम्राज्य का ह्रास ग्रौर ग्रंग्रेजों की विजय	१३५
सत्रहवां	भारत में ब्रिटिश शासन	१३९
ग्रठारहवां	सामाजिक एवं धार्मिक ग्रान्दोलन	१४७
उन्नीसवां	राष्ट्रीय ग्रान्दोलन	१५८

Section B—SOCIAL SCIENCES

Attempt any THREE *questions.*
All questions carry equal marks.

1. Give a brief account of the principal factors in social growth laying special emphasis on the *role of technology* (औद्योगिक भूमिका).

2. Describe in brief the Karl Marxian Socialism and the place it occupies in the modern political thought.

3. Evaluate the contribution of Buddhism to Indian Culture.

4. Enumerating the causes of political consciousness in India, depict summarily the growth of the national movement from 1920 to 1947.

5. Write a short account of the impact of Islam on Indian Culture.

Or

Describe briefly the social and religious movements in India during the British regime.

6. Write short notes on any *three* of the following :—

(*i*) River Valley Civilisations.

(*ii*) Pre-Industrial Economy.

(*iii*) Confucius and Lord Buddha.

(*iv*) Periclean Age.

(*v*) Bhakti Movement.

प्रथम अध्याय

सामाजिक विकास का इतिहास

प्रस्तावना—यह समाज के विकास का अध्ययन है और समाज उस मानव से बनता है जो सभ्य है। सभ्यता सदैव विकासमय होती है और इसीलिए परिवर्तनशील। केवल मौलिक तत्व उसी प्रकार रहते हैं, किन्तु उसका बाह्य रूप सदैव निखरता रहता है। इसी परिवर्तन के कारण उसके विकास-क्रम का अध्ययन आवश्यक होता है और रुचिकर भी। प्रत्येक विकासशील वस्तु के भूतकाल का अध्ययन बहुधा आनन्ददायक होता है, चाहे अच्छा हो चाहे बुरा। यदि अच्छा रहा है तो उसका स्मरण ही प्रेरणादायक और सुखकर होता है और यदि बुरा रहा है तो उससे एक बहुत बड़ी सफलता का अनुभव होता है कि कितने बुरे समय से निकलकर अब उत्तम समय का अनुभव कर रहे हैं। अतः मनुष्य की सभ्यता का इतिहास एक बहुत ही उत्सुकतापूर्ण विषय है। वास्तव में मनुष्य उत्पन्न कैसे हुआ, पृथ्वी क्या है, किस प्रकार इसका सृजन हुआ, मनुष्य सभ्य किस प्रकार हुआ और किन-किन परिस्थितियों में होकर आज वर्तमान सीमा तक पहुँचा है, ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनका स्पष्ट उत्तर पाने की इच्छा प्रत्येक सभ्य मानव की होती है। इसी विषय का संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट विवेचन करना हमारा मुख्य ध्येय है।

समाज शब्द का प्रयोग यहाँ व्यापक अर्थ में किया जा रहा है। उदाहरणार्थ मानव-समाज, अर्थात् समस्त मानव मात्र द्वारा संगठित संस्था जो इस समय विद्यमान है। यह समाज प्रारंभ से विकसित ही होता रहा है। केवल भारतीय शास्त्रों में यह प्रकट होता है कि संसार में समय समय पर पूर्ण विकास के पश्चात् प्रलय के द्वारा इसका विनाश भी होता है और फिर भगवान नई सृष्टि की रचना करते हैं। परन्तु ये सब कहानियाँ सी लगती थीं। अब जब नई खुदाई से, अति प्राचीन वस्तुयें प्राप्त होती हैं, शरीर के ढाँचे मिलते हैं, शास्त्रों के भाग मिलते हैं तब अनुमान लगाए जाते हैं कि यह वस्तु दो हजार वर्ष पुरानी होंगी, अमुक वस्तु ईसा की २०वीं सदी पूर्व की प्रतीत होती है। इस प्रकार यह स्वीकार करना पड़ता है कि समाज का विकास निरन्तर होता रहता है। यह समाज प्रगतिशील है। जब प्रगति रुकती है तो समाज शिथिल होकर नष्ट हो जाता है। अतः विकास के लिए प्रगति आवश्यक है तथा प्रगति के अभाव में समाज का निर्माण होकर लुप्त हो जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार हमारा समाज गतिशील रहा है यह निश्चित है; परन्तु यह गति किस प्रकार हुई, किन-किन श्रेणियों में होकर यह गुजरा है, इसका ज्ञान प्राप्त करना आज के सभ्य मानव के लिये अनिवार्य है। अपनी पूर्वगाथा जानने से मनुष्य अपनी वर्तमान स्थिति को ठीक प्रकार से समझने में समर्थ होता है। अतः अब हम इसी विषय का अध्ययन करेंगे कि समाज का विकास किन-

पद्धतियों द्वारा किस क्रम से हुआ है।

प्रारंभिक अवस्थायें (Early Processes)—मनुष्य की कहानी मनुष्य के बहुत पहले से आरम्भ होती है जैसे कपड़े के पहले सूत है, सूत के पहले रूई है वैसे ही मनुष्य के पहले पृथ्वी है, चांद और सूरज हैं। परन्तु हमारे विश्व का यह इतिहास आज भी पूर्ण रूप से ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है। आज से केवल २०० वर्ष पूर्व तक भी मानव को केवल पिछले लगभग तीन हजार वर्ष तक का ज्ञान था। इससे पूर्व क्या था यह केवल कल्पना और अनुमान का ही विषय था। परन्तु अब यह धारणा स्वीकार की जाती है कि पृथ्वी अनन्तकाल से है।

वैज्ञानिकों के मतानुसार सर्वप्रथम नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि अत्यन्त उष्ण आग के जलते हुए रूप में एक ही पुञ्ज थे। यह पुञ्ज अपनी ही धुरी पर तीव्र गति से घूमता था। धीरे-धीरे ऊपर का भाग ठण्डा होने लगा और ऐसी अवस्था आई कि उसके छोटे-छोटे टुकड़े अलग हो गए किन्तु गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण वे उसी बड़े पुञ्ज के चारों ओर परिक्रमा करते रहे। यह शेष बड़ा पुञ्ज आज भी है उसे सूर्य कहते हैं और उससे अलग हुआ भाग है हमारी पृथ्वी। इस पृथ्वी से अलग होकर इसी की परिक्रमा करता हुआ दूसरा भाग है चन्द्रमा। अन्य नक्षत्र भी इसी प्रकार सूर्य से पृथक हुए हैं और उसकी परिक्रमा करते हैं। अनुमान है कि इन ग्रहों को शीतल होने में करोड़ों वर्ष लगे होंगे।

इस पृथ्वी पर प्राणी का प्रथम आविर्भाव कैसे हुआ? इस प्रश्न का उत्तर आज बीसवीं सदी का मानव भी अनुमान के सहारे ही दे सकता है। पृथ्वी धीरे-धीरे ठण्डी होने लगी और ठण्डी होने के बाद उस पर जीव-जन्तु जन्मे। जल को जीवन भी कहते हैं, संभवतः पहला जीव जल में ही पैदा हुआ। ऐसा जीव जो विचरण नहीं करता था परन्तु वहीं अपना आहार प्राप्त कर लेता था। फिर पोधे उत्पन्न हुए और उनके पश्चात् अन्य जीव। इनके बाद समुद्र के जल में रेंगने वाले दूसरे जीव उत्पन्न हुए। इस समय तक भी सूखी जमीन पर जीव अथवा पौधों का अस्तित्व नहीं था।

प्रारंभ में जल में रेंगने वाले जीवों के रीढ़, फेफड़े अथवा मस्तिष्क नहीं होते थे इसलिए वे असहाय होते थे। फिर क्रमिक विकास द्वारा मत्स्य युग आया और मछली उत्पन्न हुई जिसमें रीढ़, फेफड़े व मस्तिष्क सब थे। इसके पश्चात् शुष्क भूमि पर वनस्पति उत्पन्न होने लगी परन्तु जीव ऐसे हुए जो जमीन पर भी चलें किन्तु जल में भी रहें जैसे केंचुए, कछुए आदि। फिर छोटे-छोटे पाँव वाले जल-चर हुए जिनके पैर मजबूत होते थे और उसके पश्चात् थल-चर अवतीर्ण हुए। पहले बन्दर तब हनुमान, फिर बनमानुष और अन्त में मनुष्य। इसे जन्म देकर प्रकृति धन्य हो गई। मनुष्य धरती का वह लाल था जो बुद्धि बल से जल-थल और व्योम का स्वामी बना।

मानव विकास की विभिन्न अवस्थायें—अन्य जीवों के विकास क्रम की भाँति मानव के विकास की भी कई अवस्थाएँ रही हैं, यह स्वीकार किया जाता है।

वैज्ञानिकों ने चट्टानों की आयु के अनुसार यह निष्कर्ष निकाला है कि पृथ्वी पर जीव की उत्पत्ति निम्न अवस्थाओं में होकर हुई है :—

(१) **पूर्व लुप्त जीवकाल** (Azoic Age)—इस युग में पृथ्वी पर किसी प्रकार के जीव जन्तु अथवा वनस्पति नहीं थी। धीरे-धीरे ज़ल की अधिकता के कारण जल में ही जीव उत्पन्न होने लगे, किन्तु उनमें गतिशीलता का अभाव था।

(२) **प्रारम्भिक जीवकाल** (Palaeozoic or Primary Age)—इस युग में छोटे-छोटे एक कोष वाले और अंगहीन प्राणी उत्पन्न हुए जिन्हें "जेली फिश" आदि नाम दिए गए तथा थल-चर प्राणियों की उत्पत्ति हुई। पानी के तट पर वनस्पति उत्पन्न होने लगी और जन्तु जगत की सृष्टि हुई। इसी युग में जल-थल चर (amphibious) तथा पेट के बल रेंगने वाले प्राणी (reptiles) हुए।

(३) **उत्तर जीवकाल** (Mesozoic or Secondary Age)—इस युग में पेट के बल रेंगने वाले बड़े आकार के प्राणियों की सृष्टि हुई। इनमें से कुछ तो ८४ फीट की लम्बाई तक के भी होते थे। तत्पश्चात् पक्षी तथा स्तनधारी जीव उत्पन्न हुए परन्तु इनका प्रारम्भिक रूप ही था।

(४) **नवीन जीवकाल** (Cainozoic or Tertiary)—इस युग में नवीन प्रकार के विकसित प्राणी उत्पन्न हुए जो स्तनधारी तथा स्तनपेयी (स्तन से दुग्धपान करने वाले) थे। यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण चमत्कार था। इससे पूर्व के लगभग सभी प्राणी अंडज थे, किन्तु ये पिंडज हुए। अर्थात् अपने अण्डों को शरीर के भीतर ही धारण करते थे, और शिशु का पूर्ण विकास हो जाने पर उसे प्रसव करते थे तथा स्तन से दूध पिलाकर उसका पोषण करते थे। बन्दर, पशु जैसे भैंस, घोड़ा आदि तथा अर्द्ध मानव का विकास इसी युग में हुआ। अधिकांश विद्वानों का मत है कि मानव ऐसे ही वनमानुष की संतान है जैसे गुरिल्ला, शिम्पेंजी और डरेक-डटंक।

(५) **पूर्व-पाषाण युग** (The Pleistocene period. The Palaeolithic Age)—इस युग में पहले अर्द्ध मानव था बाद में मानव का विकास हुआ। अनेक प्रकार के मानव जो विभिन्न स्थानों पर विकसित हुए इसी समय की घटना मानी जाती है। पिथैकैथ्रोपोस मानव, हाईडैलवर्ग मानव, नियेनडरथल मानव, रोडेशियन मानव की गणना इस सम्बन्ध में ही की जाती है। ईसा के लगभग चार या पांच लाख वर्ष पूर्व यह युग था तब मानव का आविर्भाव हुआ। इसका प्रमाण उस समय मिला जब सन् १८९१ ई० में हालैण्ड के एक चिकित्सक यूजिन डूबॉय ने जावा में आदिम मनुष्यों की कुछ हड्डियाँ खोज निकालीं। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर जैसे चीन में पीकिंग, जर्मनी में हाईडैलवर्ग और इंगलैंड में पिल्टडाहन में भी आदि-मानव की अस्थियाँ मिलीं। इसी आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि मानव पूर्व पाषाण युग में ही विकसित हुआ था।

(६) **उत्तर पाषाण युग** (The Neolithic Age)—इसे पत्थर का नवीन युग भी कहा जाता है। इस युग में मनुष्य ने आग पर विजय पाई थी, खेती करना

सीखा था, नदियों के किनारे बसने की उपयोगिता समझी, परस्पर सहयोग से कार्य करने की भावना उत्पन्न हुई। इसके पश्चात् से मानव के विकास का इतिहास लगभग सत्य प्रमाणों पर ही आधारित है।

साधारण रूप में मानव सभ्यता का इतिहास दो भागों में अध्ययन किया जाता है। प्रथम, लेखनकला व लिपि के आविष्कार और प्रचलन से पूर्व का प्रागैतिहासिक युग, जिसमें पाषाण युग, ताम्र युग, कांस्य युग तथा लौहयुग भी सम्मिलित हैं और दूसरा ऐतिहासिक युग जो उक्त लेखन तथा लिपि के प्रचलन के पश्चात् आरम्भ होता है। इस प्रकार उपरोक्त अनेक श्रेणियों में होकर मानव का विकास हुआ है। यदि हम जीव के विकास का प्रारम्भिक क्रम छोड़ दें तो मानव का विकास मुख्य चार श्रेणियों में माना जा सकता है। (१) अर्द्ध-मानव, (२) मानव, (३) प्राचीन मानव, तथा (४) वर्त्तमान मानव।

(१) **अर्द्ध-मानव**—यदि मानव को हम बन्दर की सन्तान न भी मानें तो भी इस समय मनुष्य बन्दर से मिलता जुलता तो था ही; यह अर्द्ध-मानव भूमि पर निवास करता था, अपने पैरों के बल पर ही चलता था, परन्तु उसकी बुद्धि विकसित नहीं थी। उसमें सोचने की शक्ति नहीं थी। मस्तिष्क अधिक कार्य नहीं कर सकता था। फिर भी अपने हित को समझता था, यह अर्द्ध-मानव था।

(२) **मानव**—इस अवस्था में मनुष्य ने अपना निवास सुरक्षित स्थान में करना सीखा, आहार प्राप्त करना तथा संग्रह करना सीखा और अनेक प्रकार के साधन जीवन को सुखी बनाने के लिए जुटाने लगा। यह मानव की वह अवस्था थी जब अन्य प्राणियों की अपेक्षा वह एक चतुर प्राणी बन गया था।

(३) **प्राचीन मानव**—यह मानव की अपेक्षा अधिक विकसित अवस्था थी। इस समय मानव को अग्नि का ज्ञान था और अनेक साधनों से अपेक्षित स्थान पर पत्थर की रगड़ आदि से अग्नि उत्पन्न कर, पेड़ पत्तियाँ जलाकर उसका उपयोग करता था। शरीर रक्षा के हेतु पेड़ों के पत्ते तथा चमड़े का प्रयोग भी आरम्भ कर दिया था। बोलने तथा अपनी भावाभिव्यक्ति की कला भी वह सीखने लगा था परन्तु फिर भी अभी पूर्ण विकसित नहीं था।

(४) **वर्तमान मानव**—किस समय से यह मानव अस्तित्व में आया इसका ठीक प्रमाण तो आज भी उपलब्ध नहीं है, किन्तु अनुमान से लगभग २५ हजार वर्ष पूर्व से वर्तमान मानव के विकास का समय आँका जाता है। आधुनिक सभ्यता के युग की विभिन्न विशेषताओं का क्रमिक विकास इसी मानव के मस्तिष्क की उपज है। अन्य समस्त प्राणियों पर इसी बुद्धि के बल पर वर्तमान मानव का पूर्ण अधिकार स्थापित है।

प्राचीन समाज (Primitive Societies)—वैसे तो समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई सिद्धान्त प्रचारित रहे हैं जिनके द्वारा भिन्न-भिन्न विद्वान समाज की रचना अलग-अलग साधनों अथवा कारणों से मानते हैं जैसे दैवी सिद्धान्त, सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त, प्रवृत्ति सिद्धान्त (Instinct Theory) तथा विकास सिद्धान्त।

आजकल केवल विकास सिद्धान्त को ही सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। यहाँ हम इसी सिद्धान्त का अध्ययन करेंगे।

मानव-जीवन के आरम्भ से ही समाज की रचना निरन्तर विकास के फल-स्वरूप हुई है यह स्वीकार किया जाता है। इस विकास की निम्नलिखित चार प्रमुख श्रेणियाँ मानी जाती हैं :—

(१) आखेट जीवन, (२) चरवाहा जीवन, (३) कृषक-जीवन तथा (४) औद्योगिक जीवन।

(१) **आखेट-जीवन**—मानव समाज के विकास का प्रथम सोपान आखेट-मय जीवन था। इस समय मनुष्य अपने छोटे छोटे संगठित दलों में रहता था। ये दल फल एकत्रित करते थे और जानवरों का शिकार करते थे और दल के सभी सदस्य भोजन प्राप्ति की आवश्यकता के कारण ही साथ रहते थे। संगठन सरल था। जो कुछ मिलकर प्राप्त करते थे, उसका बंटवारा समान रूप से कर लिया जाता था। उस समय कोई शासक, सरकार, सम्पत्ति, नियम अथवा विधान सभायें नहीं थीं। यहाँ तक कि पारिवारिक जीवन का भी कोई रूप विकसित नहीं हुआ था। संकट काल के लिये खाद्य सामग्री एकत्रित करके रखने की प्रवृत्ति भी जाग्रत नहीं थी। जो कुछ मिल जाता था या प्राप्त करते थे उसे समाप्त कर देते थे। संसार उन्हें भयावह (संकटमय) लगता था। कभी-कभी अकाल, महामारी आदि भी उन्हें सताती थी। जीवन के श्रेय और प्रेम-पक्ष पर विचार करने का समय उन्हें नहीं मिलता था। विभिन्न दलों में विभिन्न नियम एवं परम्परायें थीं, सामान्य नियमों का अस्तित्व नहीं था। अपने दल के सदस्यों को व्यक्तिगत रूप में अधिकारों की स्वीकृति नहीं थी। ज्ञान, सुख, सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से यह समय अत्यन्त कष्टप्रद था।

(२) **चरवाहा जीवन**—आखेट जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन मुख्य रूप से जानवर पालने की प्रथा के कारण हुआ और इसी कारण से चरवाहा जीवन का समारंभ हुआ। अब समाज का आकार बढ़ने लगा, दलों का विस्तार वंश एवं जातियों में होने लगा, क्योंकि खाद्य समस्या अब पहले जैसी विकट न रहकर, पशु-पालन की प्रथा द्वारा अत्यन्त सरल हो गई थी। इस समय अनेक पत्नी प्रथा की संस्था का विकास हो रहा था और विवाह के द्वारा परिवार की संस्था जम रही थी, जिसमें पिता, उसकी पत्नी, सन्तान, संतान की संतान (विशेष रूप से केवल पुत्र तथा पुत्र-वधुएँ और उनकी संतान) सम्मिलित होती थीं। परिवार के अध्यक्ष को अपने सदस्यों के जीवन तक पर पूर्ण अधिकार होता था। अनेक परिवारों से वंश तथा जातियाँ बनकर बड़े समूह स्थापित होते थे इस प्रकार समाज का संगठन रक्त सम्बन्ध पर आधारित था। इनका मुख्य व्यवसाय पशु पालन होता था, इसलिए चरागाहों की सुरक्षा और अधिकार बहुत प्रधान समझा जाता था। आखेट जीवन की अपेक्षा इस जीवन में सुरक्षा अधिक थी; किन्तु फिर भी ये एक स्थान पर स्थायी निवास नहीं कर सकते थे। एक स्थान का चरागाह सूख जाने पर या समाप्त हो

जाने पर उन्हें नये चरागाहों की खोज करके शरण लेनी ही पड़ती थी। इसी समय इन जातियों में संघर्ष भी हो जाते थे, जब दो भिन्न जातियाँ एक ही चरागाह पर अपना अधिकार जमाना चाहती थीं। इसलिये इन जातियों में नेतृत्व को स्थान मिला। ये नेता शान्ति के समय न्याय और संघर्ष के समय युद्ध का संपादन करते थे। इसी युग में पूर्वज-पूजा और प्रकृति-पूजा की परम्परा भी स्थापित हुई और धर्म की स्थापना हुई। इसी समय निजी-सम्पत्ति की स्थापना हुई तथा धनी और निर्धन में भेद स्पष्ट होने लगा।

(३) **कृषक जीवन**—कृषि के विकास ने चरवाहा जीवन में क्रान्ति उत्पन्न की और कृषक जीवन आरम्भ हुआ। इस समय समाज का रूप बढ़ा और ग्राम बसने लगे। जनसंख्या बढ़ने लगी। खाद्य सामग्री की प्राप्ति में सुविधा हो जाने के कारण ही ये सब परिवर्तन होने लगे। समाज स्थायी होने लगा। कृषि की सुरक्षा व विकास के लिये यह आवश्यक हुआ। इसीलिये समाज का संगठन केवल रक्त सम्बन्ध पर आधारित न होकर पड़ोसी और पड़ोस पर भी पूरी तरह आधारित होने लगा। इसीलिये प्रत्येक गाँव में विभिन्न जातियों ने सहयोग से काम करना आरम्भ किया और परस्पर सम्मान करना सीखा। इस समय का मुख्य व्यवसाय कृषि ही था किन्तु अन्य सहायक या स्वतन्त्र व्यवसाय भी विकसित हुए। व्यवसाय के आधार पर जातियाँ स्थापित होने लगीं और समाज एक वर्ग-संगठन सा बन गया। पुरोहित, योद्धा, व्यापारी, श्रमिक, कृषक आदि के वर्ग इसी समय स्थापित हुए। धर्म का महत्व पूर्वापेक्षा बढ़ गया। सांसारिक समृद्धि के लिए कृषक प्रकृति पर निर्भर करता था इसलिए प्रकृति-पूजा का विकास हुआ। राजनीतिक संगठन भी उन्नत होने लगे। राज्य की स्थापना हुई। युद्ध के फलस्वरूप शासक और शासित के वर्ग बन गये। इसी युग में व्यापार और उद्योग की उन्नति का प्रभाव भी बहुत हुआ। व्यापारी भ्रमणशील होने के कारण भिन्न-भिन्न स्थानों का परिचय पाने लगा और उनमें तुलना करने लगा और नया दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ। इसी समय नगर स्थापित होने लगे जहाँ व्यापार के केन्द्र तथा नये विचारों के आदान-प्रदान के मंच बन गये। परन्तु इस समय भी पूर्ण विकास होने में कुछ कसर थी।

(४) **औद्योगिक-जीवन**—कृषक जीवन को आमूल परिवर्तित करने का श्रेय, उद्योग को है जिसने शक्ति (Power) के उपयोग से असम्भव को सम्भव और कठिन को सरल बना दिया है। आज का यही युग है। इस समय समाज विस्तृत है। सम्पूर्ण विश्व एक इकाई है। शक्ति-संचालित यन्त्रों ने यह सम्भव बनाया है। इन यन्त्रों से स्थानों की दूरी दूर हो गई और संसार का आर्थिक तथा सांस्कृतिक जीवन बहुत घनिष्ठ बन गया। टेलीफोन, टेलीवीजन, हेलीकोप्टर, अणु शक्ति आदि के आविष्कार अत्यन्त आश्चर्यजनक हुए हैं। आज संसार के एक छोटे से कोने की छोटी सी घटना का प्रभाव सम्पूर्ण विश्व में प्रकट होता है। आर्थिक दृष्टि से समस्त मानव समाज एक बन गया है। लगभग प्रत्येक वस्तु का निर्माण कई देशों के श्रमिकों के सहयोग से होता है। प्रेस द्वारा विचार व्याप्त होते हैं। अब उत्पादन, ज्ञान, व्यक्तिवादी जीवन,

राजनैतिक संगठन तथा समाज आदि सब चीजें आज समस्त संसार की एक ही रूप में होनी चाहिएँ ऐसे विचार और योजनायें चल रही हैं।

सामाजिक संस्थाओं की उत्पत्ति—मानव समाज तथा विभिन्न समुदायों का जीवन अनेक प्रकार की संस्थाओं तथा रीति-रिवाज और परम्पराओं के प्रभाव से संचालित होता है। वर्तमान समाज का संगठन बहुत कठिन है। इसमें अनेक प्रकार के ऐसे समुदाय हैं जो विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार से क्रियाशील हैं। समाज के संगठन की व्याख्या करने से पूर्व कुछ सम्बन्धित शब्दों का अर्थ स्पष्ट रूप से समझना आवश्यक है। ये निम्न हैं :—

(१) समुदाय (Association) (२) क्षेत्र (Community), (३) संस्था (Institution)।

समुदाय—मनुष्यों का ऐसा संगठित समूह होता है जो सामान्य उद्देश्य के लिए कार्य करता है। इसमें मनुष्यों की सदस्यता, केन्द्रीय संगठन तथा उद्देश्य की एकता आदि के तत्व होते हैं।

क्षेत्र—समाज का प्रत्येक ऐसा भाग जो अपने में पूर्ण हो, जैसे ग्राम, नगर, देश आदि वह क्षेत्र कहलाता है। जहाँ का जन-जीवन एकसा हो और नागरिकों के जीवन में भी परस्पर गहरा सम्बन्ध हो ऐसे स्थानों में एक सी परम्परा, एक से रीति-रिवाज, एकता की भावना आदि मुख्य विशेषताएँ विद्यमान होती हैं।

संस्था—मेक आइवर के शब्दों में संस्थायें मानव के पारस्परिक सम्बन्धों का स्थापित तथा स्वीकृत रूप हैं। वे परम्परा, प्रथा, परिपाटी अथवा रीति रिवाज के रूप में रहती हैं और सामाजिक जीवन के स्थायी संगठन का अंग होती हैं। इनकी स्थापना किसी समुदाय के द्वारा की जा सकती है जैसे परिवार के द्वारा विवाह, राज्य या क्षेत्र द्वारा नियम आदि की स्थापना होती है। विवाह, नियम, दण्ड, जाति प्रथा, छूआछूत, अनिवार्य वैधव्य आदि इसी अर्थ में संस्थायें हैं। इस प्रकार संस्था केवल सामाजिक सम्बन्धों का एक रूप है जबकि समुदाय है एक जन-समूह।

अतः हम कह सकते हैं कि आधुनिक समाज उन क्षेत्रों एवं समुदायों से युक्त है जिनका जीवन संचालन संस्थाओं द्वारा किया जाता है।

इन संस्थाओं को नवीन रूप से स्थापित भी किया जा सकता है अथवा अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समुदाय इन्हें समाज से प्रस्तुत रूप में भी अपना सकता है। वर्तमान समय में इन संस्थाओं की संख्या अनगिनती हो रही है अतः सबका वर्णन न सम्भव है और न आवश्यक। यहाँ केवल इतना समझना आवश्यक है कि इनकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज की अनुपस्थिति में वह अपना विकास तो कर ही नहीं सकता, साथ ही वह संतुलित मानव भी नहीं रह सकता। अनेक देशों में इस प्रकार के प्रयोग करके देखे गये हैं जब मानव शिशु को समाज से पृथक रक्खा गया और वह अपनी किसी भी शक्ति, जैसे सुनना, बोलना, सूंघना आदि का विकास नहीं कर पाया। यह भी स्वीकार किया जाता है कि एकान्त कारावास का

दण्ड भी कठोरतम माना जाता है। अतः मानव का समूह बनाकर समाज में रहना अत्यन्त स्वाभाविक होता है। बड़े समूह में रहने के कारण उन सब सदस्यों के आचार-विचार, रहन-सहन एवं परम्पराओं आदि में साम्य आ जाता है और उन्हें मान्यता मिल जाने से मानव जीवन बहुत सुविधाजनक तथा सरल बन जाता है। समाज की अनेक कठिनाइयों को दूर करने का सर्वोच्च साधन इन्हीं संस्थाओं को माना जाता है। इसलिए यह सच है कि समाज में संस्थाओं का जन्म समाज की सेवा के लिए हुआ है। इसके अतिरिक्त संस्थाओं को समय के अनुकूल परिवर्तित भी होते रहना चाहिए। प्रत्येक संस्था इसीलिये अच्छी नहीं समझी जानी चाहिये कि वह प्राचीन काल से विद्यमान है, वरन् आवश्यकतानुसार नई भी उत्पन्न होती रहे और उपयोगिता न रहने पर उनका लोप होते रहना भी अनिवार्य है। इस प्रकार संस्थाओं का जन्म मानव समाज की सेवा के लिए निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये हुआ है।

संस्थाओं की विशेषताएँ—यद्यपि संस्थाओं का उपयोगी न रहने पर उन्हें लुप्त हो जाना चाहिए, तथापि कोई संस्था समय पर समाप्त नहीं होती वह अपना अस्तित्व बनाए रखना चाहती है। धीरे-धीरे इन संस्थाओं में निहित स्वार्थ उत्पन्न हो जाते है जिनकी पूर्ति के लिए इन संस्थाओं की विद्यमानता अनिवार्य होती है। ऐसे लोग फिर संस्थाओं को दृढ़ बनाए रखना चाहते हैं और उनके उन्मूलन का घोर विरोध करते हैं। कुछ व्यक्ति उन प्राचीन संस्थाओं को जीवन का अन्तिम अंग ही समझ बैठते हैं। परन्तु ऐसी संस्थाओं का प्रभाव मानव के कल्याण और सुख पर बहुत घातक सिद्ध होता है। इसलिए नवीन परिस्थितियों के अनुसार समाज की समस्त संस्थाओं का समय-समय पर पुनर्गठन एवं पुनः मूल्यांकन होना अनिवार्य है।

संस्था (Institution)—शब्द बहुत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है। उदाहरणार्थ परिवार, विवाह, शिक्षा, जाति, दण्ड, सम्पत्ति आदि सभी संस्थाएँ हैं। परन्तु यह समुदाय, राष्ट्र, देश तथा राज्य से भिन्न हैं। यद्यपि साधारण व्यक्तियों के लिए इन उपरोक्त सभी के लिए संस्था शब्द का प्रयोग किया जा सकता है तथापि वास्तव में इनमें भेद है। वैसे स्कूल, कालेज आदि भी संस्थाएँ कहलाते हैं, परन्तु वास्तव में ये समुदाय हैं। समुदाय एक साक्षात् संगठन होता है जबकि संस्था मनुष्यों के समुदायों को संचालित करने का एक अमूर्त साधन है। समुदाय की सदस्यता होती है, संस्था की नहीं। संस्था केवल मार्ग दर्शन करती है। संस्थाएँ समुदायों द्वारा आवश्यकतानुसार निर्धारित की जाती हैं, जैसे परिवार द्वारा विवाह की संस्था स्वीकार की गई है। अतः संस्था केवल सम्बन्धों का स्वीकृत स्वरूप ही माना गया है।

विभिन्न संस्थाएं (१) शिक्षा—राष्ट्र के चरित्र निर्माण के हेतु उचित शिक्षा की महत्ता और आवश्यकता आज समस्त विश्व में स्वीकार की जाती है। व्यक्तिगत जीवन-स्तर उठाने, चतुर एवं बुद्धिमान नागरिक उत्पन्न करने, नागरिकता का प्रशिक्षण देने तथा घर और समाज के सम्बन्ध मधुर बनाने के लिए, शिक्षा से बढ़कर

कोई सफल साधन व संस्था नहीं है। विशेषत: आज के लोकतांत्रिक युग में इस संस्था का महत्व अधिक है। शिक्षा में सामाजीकरण की बड़ी भारी शक्ति होती है। इसके द्वारा मानव अपनी प्रवृत्तियों का नियंत्रण करता हुआ अपनी तुच्छ भावनाओं को अनुशासित करता है। इसके सहारे मानव अपने जीवन के आर्थिक संघर्ष पर विजय प्राप्त करता है। अत: शिक्षा मानव समाज की सदैव ही शुभ संस्था रही है।

(२) **सम्पत्ति**—सामाजिक जीवन में सम्पत्ति की संस्था भी महत्त्वपूर्ण है। इसकी उत्पत्ति मनुष्य की आवश्यकताओं के कारण हुई है। यह मनुष्य की कई प्रवृत्तियों एवं धारणाओं को संतुष्ट करती है और उसके विकास में अनेक प्रकार से सहायक होती है। इसका स्वरूप समयानुसार बदलता रहता है। निजी सम्पत्ति, जन-सम्पत्ति, भूमि, भवन आदि का महत्व और स्वरूप भी परिवर्तनशील रहता है। यह संस्था अति प्राचीन है। कुछ लोगों का मत है कि सम्पत्ति का जन्म राज्य से भी पहले हुआ था और यह सत्य प्रतीत होता है। सम्पत्ति से मानव को सुरक्षा और स्वतन्त्रता अनुभव होती है, उसके चरित्र विकास में सहायता मिलती है, उसमें उदारता और सत्कार वृत्ति जाग्रत होती है तथा कार्य करने की प्रेरणा में सहायता मिलती है। इससे कुछ हानियाँ भी हैं जैसे समाज में शोषण, भूख और निर्धनता को स्थायी बनाती है, धनवान अधिक धनवान और निर्धन अधिक निर्धन बनते जाते हैं, आदि।

(३) **दण्ड**—यह संस्था भी सामाजिक जीवन का अभिन्न भाग है। राज्य, शिक्षा और दण्ड, दो संस्थाओं द्वारा ही समाज में व्यवस्था स्थापित करता है और राज्य के नियमों का पालन सम्भव बनाता है। दण्ड साधारण शब्दों में वह पद्धति है जिसके द्वारा सामाजिक अव्यवस्था करने वाले व्यक्ति के अधिकार इस प्रकार छीन लिए जाते हैं कि अपराधी को भी कष्ट न हो। दण्ड का उद्देश्य मानव अधिकारों की अवहेलना को रोकना होता है। इसके अनेक सिद्धान्त हैं जैसे प्रतिशोधात्मक, निषेधात्मक तथा सुधारात्मक सिद्धान्त। आजकल सुधारवादी सिद्धान्त पर ही अधिक बल दिया जाता है।

(४) **परिवार तथा विवाह**—मानव समाज में यह संस्था बहुत महत्वपूर्ण है। कुछ विद्वान तो यहाँ तक कहते हैं कि परिवार ही बढ़कर धीरे-धीरे जाति, वंश और राज्य के रूप में बदल गए। वास्तव में परिवार वह संस्था है जिसमें पुरुष और स्त्री के सम्बन्ध समाज द्वारा मान्यता प्राप्त करते हैं। इसकी सहायक दूसरी संस्था विवाह है। विवाह के रूप प्राचीन काल से ही अनेक रहे हैं और समय तथा स्थिति के अनुसार वे बदलते भी रहे हैं। अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों का हिन्दू शास्त्रों में बहुत वर्णन है। साथ ही राक्षस विवाह, गांधर्व विवाह आदि का भी प्रसंग बड़ा रोचक है। मुसलमानों में इसका रूप 'मूता विवाह' और 'तलाक' के कारण अधिक महत्व का है। वर्त्तमान समय में भी विवाहों का स्वरूप बदल रहा है। न्यायालयों में जाकर विवाह करने की प्रथा पश्चिमी देशों से अपनायी गई है और प्राचीन रूप जिसके अनुसार विवाह एक जन्म-जन्मान्तर तक के पुरुष और स्त्री के

सम्बन्धों का संस्कार माना जाता था नष्ट प्राय: सा हो गया है। पुरुष की दृष्टि से एक पत्नि प्रथा अथवा बहुपत्नि प्रथा की परम्परा भी धीरे-धीरे उठ गई है और बहुपति प्रथा का संस्था के रूप में तो सर्वथा अभाव ही हो गया है। द्रौपदी के समय में यह प्रथा प्रचलित थी। सम्भव है अब भी कहीं पिछड़े भागों में ये संस्थाएं प्रचलित हों।

परिवार—इस संस्था का प्रथम प्रादुर्भाव कैसे हुआ यह केवल कल्पना-लोक का विषय है। कोई प्रमाण प्राप्य नहीं है। फिर भी इसके दो प्रधान रूप प्राचीन रूप से देखे जाते रहे हैं। एक तो पितृ प्रधान परिवार और दूसरा मातृ प्रधान परिवार। जहां पिता परिवार का अध्यक्ष था वहां पहली प्रकार का परिवार होता था। यही संस्था अधिक लोक प्रिय रही थी और है। दूसरा जहां परिवार की अध्यक्षता माता के हाथ में होती थी। आज भी भारतवर्ष में दक्षिण की ओर तथा अफ्रीका में मातृ प्रधान परिवारों के उदाहरण मिलते हैं। वर्त्तमान समय में एक और रूप प्रचलित रहा है वह है संयुक्त परिवार पद्धति, किन्तु पाश्चात्य देशों के प्रभुत्व से अब धीरे-धीरे यह संस्था नष्ट होती जा रही है।

सामाजिक विकास के मुख्य तत्व—यह स्वीकार कर लेने पर कि समाज मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकता है, समाज के विकास में किन तत्त्वों और कारणों का योग रहा है जानना आवश्यक हो जाता है। मानव एकान्तवासी नहीं हो सकता, उसे समाज ही जीवनदान देता है। समाज के द्वारा मनुष्य सांस्कृतिक तुष्टि तथा मानसिक उन्नति प्राप्त करता है इसलिये समाज का विकास मनुष्य के हित के लिए वांछनीय है। निम्नलिखित अनेक कारणों तथा तत्त्वों की सहायता से समाज का विकास होता है :—

(१) भोजन की आवश्यकता—अपने जीवन निर्वाह के लिए प्रत्येक व्यक्ति को भोजन की आवश्यकता होती है। प्रारम्भ में तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं ही करता था किन्तु समाज के विकास के कारण परस्पर सहयोग अनिवार्य हो गया और इसके कारण समाज के सदस्यों में स्वार्थ के कारण अच्छे सम्बन्ध स्थापित हुए और परस्पर सहायता देने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई और सदा के लिए समाज का अभिन्न अंग बन गई। यह सहकारिता का तत्त्व आज बीसवीं सदी में और भी व्यापक बन रहा है जहां समाज के अधिकांश कार्य सहकारिता के आधार पर ही होंगे। अतः प्रथम तत्त्व समाज के विकास में भोजन की आवश्यकता का रहा है।

(२) जीवन-रक्षा—वैसे तो भोजन की प्राप्ति से भी जीवन की रक्षा ही होती है, किन्तु जीवन पर होने वाले अचानक आघातों से रक्षा करने की भी जरूरत होती है। जैसे जंगली जानवरों का शिकार होने से बचना तथा शिशुओं, वृद्धजनों आदि के जीवन की रक्षा करना आदि यह समाज में ही सम्भव है। पशु पक्षियों तक में भी जीवन रक्षा के हेतु सारा समूह संगठित रहता है। जंगल में गाय अथवा भैंसों के समूह में से सिंह किसी एक को पकड़ कर ले जाने में सफल नहीं होता।

इसी प्रकार मानव समाज के विकास में भी जीवन-रक्षा का कारण बहुत सहायक हुआ है।

(३) **निवास की आवश्यकता**—मनुष्य ऐसा स्थान भी चाहता है जहाँ वह निश्चिन्ततापूर्वक आराम कर सके। किसी का भय भी न हो, किसी के आश्रित न हो और कोई उसे पीड़ित भी न कर सके। प्रारम्भ में असभ्य होने के कारण गुफा एवं कन्दराओं तथा वृक्षों पर निवास करता था परन्तु फिर भी अति बरसात, अति सर्दी तथा अत्यन्त गर्मी उसे कष्ट देती थी। धीरे-धीरे सभ्यता के कारण उसने गृह-निर्माण कला सीखी और इसके द्वारा समाज का बहुत विकास हुआ। आज बीसवीं सदी में भवन-निर्माण का जितना कार्य हो रहा है वह नवीन सभ्यता का प्रतीक है।

(४) **अन्य तत्त्व**—उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त कुछ और तत्त्व भी सामाजिक विकास में सहायक हुए हैं। इनमें रक्त सम्बन्ध, धर्म तथा सामाजिक प्रवृत्तियाँ मुख्य हैं।

रक्त सम्बन्ध समाज का बहुत गहरा बन्धन समझा जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के जन्म से लेकर, उसका पालन, शिक्षा, विवाह, व्यवसाय, पारिवारिक सम्बन्ध तथा देहावसान और उसके पश्चात् उसकी पारिवारिक शृंखला में सन्तान की उन्नति आदि मुख्य घटनायें हैं और ये संबन्ध प्रगाढ़ होते हैं। 'रक्त जल की अपेक्षा अधिक गाढ़ा होता है' प्राचीन कहावत है। इसी आधार पर परिवार, वंश, जाति और कुल बनते रहे हैं।

धर्म ने सामाजिक विकास में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इसके द्वारा मनुष्य अपने गूढ़ प्रश्नों का हल प्राप्त करता है और मनुष्य में विश्वास करना सीखता है। बीसवीं सदी में भी धर्म मनुष्य के लिए शक्तिशाली तत्त्व स्वीकार किया जाता है। पाकिस्तान की रचना इसका प्रमुख उदाहरण है, तो प्रारम्भ में धर्म की सहायता से पवित्र समाज बनाने में बहुत सहायता मिली होगी, इसमें सन्देह नहीं है।

अन्तिम तत्त्व **सामाजिक प्रवृत्तियों** का है। जब तक मनुष्य की ये प्रवृत्तियाँ संतुष्ट नहीं होतीं वह आनन्द का अनुभव नहीं करता। इसलिए समाज से वह सम्मान और मान्यता लेने के लिए प्रदर्शन करता हुआ अपनी ऐसी प्रवृत्तियों को संतुष्ट करता है। विवाह की प्रथा, प्रीतिभोज की पद्धतियाँ ऐसे ही कुछ उदाहरण हैं जिनसे समाज के विकास में बहुत योग मिला है और जो समाज की प्रधान परम्पराओं के रूप में आज भी विद्यमान हैं।

कुछ लोगों का मत है कि सामाजिक उन्नति में प्रमुख सहायक तत्त्व निम्न तीन होने चाहियें :—(१) वंशानुक्रम तथा वातावरण, (२) भौगोलिक स्थिति तथा (३) प्राणी-शास्त्रीय सिद्धान्त। किन्तु यह ठीक नहीं ज्ञात होता। समाज के जीवन पर इन तत्त्वों का प्रभाव तो हो सकता है किन्तु ये विकास के कारण नहीं बन सकते, अतः इन्हें गौण रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

समाज में प्रोद्योगिकी का महत्व (Role of Technology)—प्रोद्योगिकीय

तत्त्वों का महत्त्व मानव की उन्नति तथा उसकी सभ्यता और संस्कृति के विकास और विस्तार में सदैव से ही माना गया है। प्रत्येक युग जब एक चरण आगे बढ़ाता है तो उसमें किसी न किसी रूप में प्रोद्योगिकी का सक्रिय सहयोग होता है। आखेटमय जीवन के समय मनुष्य इसी तत्त्व की सहायता से शिकार के नये साधन जुटा सका था। वन्य पशुओं एवं दूसरे जन्तुओं से सुरक्षा के लिए तथा उन्हें अपने वश में करने के लिए भी इसी तत्त्व द्वारा सफलता मिली थी। मछली पकड़ने के साधन, नये उपायों की खोज तथा उनका प्रयोग प्रोद्योगिकी का ही चमत्कार रहा है। पत्थर, हड्डियाँ, धातुयें आदि का उपयोग इसी तत्त्व के द्वारा विकसित हुआ। कृषि युग में नए यन्त्र, हल, कुदाली, फावड़ा आदि, सभ्यता के साधन, वेशभूषा, आभूषण, निवास-स्थान, ग्राम आदि ये सभी प्रोद्योगिक तत्त्वों द्वारा ही समाज में लाये जा सके हैं और वर्त्तमान समय की समस्त प्रगति यह और भी स्पष्ट करती है कि आधुनिक सारी उन्नति, चमत्कार, आविष्कार प्रोद्योगिकी की महिमा है। अणुशक्ति का विकास, चन्द्रमा में जाने का प्रयत्न, एक ही स्थान से बैठे-बैठे विश्व के किसी भी भाग से संपर्क स्थापित कर सकना अथवा बेलेस्टिक मिसाइल्स को अभीष्ट स्थान पर भेज सकना, टेलीवीजन द्वारा मनोविनोद आदि के सारे चमत्कार इसी प्रोद्योगिकी का अनुदान है। अतः इसका महत्त्व बहुत है और भविष्य में भी बना रहेगा।

मार्क्स के मतानुसार सारा विश्व प्रोद्योगिकी के द्वारा ही संगठित एवं नियन्त्रित होता है। उसका कथन है कि जब-जब प्रोद्योगिकी के रूप और प्रकार में परिवर्त्तन होता है तब-तब समाज की भी सारी संस्थाओं में परिवर्त्तन होना अनिवार्य है। उसने इतिहास के अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध किया है कि कृषक-युग, सामन्त-युग और वर्त्तमान उद्योग-युग में प्रोद्योगिकी परिवर्त्तनों के द्वारा समाज भी बदले गये हैं। अतः प्रोद्योगिकीय तत्त्व समाज के संगठन, विकास और उन्नति में अपना विशेष तथा महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. प्रारम्भिक अवस्थाओं से आप क्या समझते हैं? व्याख्या करते हुए समझाइये।

२. मानव-विकास किस प्रकार हुआ? इसकी विभिन्न अवस्थायें बताते हुए एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

३. 'संस्था' से आप क्या समझते हैं? परिभाषा लिखिए तथा उनके विकास का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

४. प्राचीन समाज किन किन स्थितियों में से गुजरा है, विस्तार सहित लिखिए।

—: o :—

द्वितीय अध्याय

सभ्यता और संस्कृति का विकास

प्रस्तावना—उत्तर प्रस्तर युग के पश्चात् जब मानव खेती करने की कला से परिचित हो गया तो उसे अपने स्थायी निवास के लिए स्थान चुनने में कठिनाई नहीं हुई। जहाँ उपजाऊ भूमि पर्याप्त जल की सुविधा तथा पशुओं के लिए चरागाह मिल सकते थे, वही स्थान निवास की दृष्टि से उत्तम समझे जाते थे। अब मानव सामूहिक रूप में रहने लगा था इसलिए भूमि, जल, चरागाह आदि की सुविधा एक बड़ी संख्या के लिए अनिवार्य थी। इस प्रकार कई कृषक निवास बस गए और सभ्यता विकसित होने लगी। ऐसे निवास निश्चित रूप से नदी की घाटियों में उपलब्ध हुए। वहाँ अन्य सुविधाओं के साथ अच्छी पैदावार हो सकता थी, सिंचाई के साधन जुटाए जा सकते थे और स्वास्थ्य की दृष्टि से भी ऐसे प्रदेश अच्छे रहते थे। आर्थिक सुरक्षा एवं प्राकृतिक रुकावटों की अनुपस्थिति के कारण कुशल राजनैतिक संगठन भी स्थापित किए जा सके। जल और स्थल पर आवागमन के साधन भी उपलब्ध हुए जिससे विशाल क्षेत्र में संस्कृति का प्रसार संभव हुआ। इन अनेक सुविधाओं की प्राप्ति के कारण विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं का विकास नदियों की घाटियों में ही हो सका था। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि मिस्र में नील नदी की घाटी और मैसोपोटामिया में दजला-फरात नदियों की घाटी सभ्यताओं के विकास स्थल बन गए। लगभग ३५०० वर्ष ई० पू० के समय से इन सभ्यताओं का विकास माना जाता है। इसी प्रकार लगभग ३००० वर्ष ई० पू० प्रगतिशील नागरिक सभ्यता का विकास सिन्धु नदी की घाटी में भारतवर्ष में माना जाता है। इसके प्रमाण सन् १९२१ की खुदाई द्वारा प्राप्त उन अवशेषों को माना जाता है जो मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में मिले हैं। इसी प्रकार ह्वांगहो और यांगत्सी नदियों की घाटियों में चीन सभ्यता का विकास हुआ जिसके लगभग २००० वर्ष ई० पू० के होने का अनुमान लगाया गया है। डा० टोयनबी का मत है कि चीनी सभ्यता का विकास पीली नदी की घाटी में हुआ है। कालान्तर में इसी प्रकार यूनानी, ईरानी, रोमन आदि सभ्यताओं का विकास हुआ। दक्षिणी अमेरिका की मय सभ्यता का विकास भी इसी प्रकार नदियों की घाटियों में हुआ है। अब हम मुख्य मुख्य सभ्यताओं की प्रमुख विशेषताओं का अध्ययन करेंगे।

(१) मिस्र की सभ्यता

हेरोडोटस के शब्दों में "मिस्र नील नदी का वरदान है। मिस्र नील की पुत्री है।" यह वर्णन बहुत सुन्दर और उचित है। नदीकालीन सभ्यताओं में मिस्र अपना प्रधान स्थान रखता है। मिस्र की भौगोलिक स्थिति ने उसकी सभ्यता की

रक्षा में सहायता पहुँचाई है । इस सभ्यता का विकास कब हुआ इसका कोई निश्चित प्रमाण तो उपलब्ध नहीं है, किन्तु है यह सभ्यता अति प्राचीन । कुछ इतिहासकार इस सभ्यता को दस हजार वर्ष प्राचीन मानते हैं । ईसा से ५००० वर्ष पूर्व से तो निश्चित प्रमाण भी मिलते हैं । अन्य सभ्यताओं की भांति यहाँ के लोग भी कृषि-निपुण थे । नील नदी को वे पूज्य मानते थे और उसी की कृपा में विश्वास करते थे । इस रूप में वे भारतीय सभ्यता के निकट थे । भारत में भी गंगाजी को परम पवित्र और पापमोचनी समझा जाता है और भारतीयों की इसके प्रति सदैव से श्रद्धा रही है । इस प्रकार मिस्र की सभ्यता भी पर्याप्त रूप में धर्म प्रधान रही है ।

शासन व्यवस्था—अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर सिकन्दर महान् के आगमन तक मिस्र में कुल मिलाकर ३१ वंशों ने राज्य किया था । इनमें चापस तथा चेफरन दो शासक बहुत प्रसिद्ध हुए हैं । उन्होंने धन-धान्य की अपार वृद्धि की और वैभव प्रदर्शन के हेतु पिरेमिड बनवाए जा आज भी संसार के प्रमुख आश्चर्यों में गिने जाते हैं । इसी के कारण वह समय भी 'पिरेमिड काल' कहलाता है । बाद में कुछ निर्बल शासकों का युग चला और मिस्र को अराजकता का सा समय देखना पड़ा । फल-स्वरूप सामन्त प्रथा का आरम्भ हुआ । किन्तु स्वतन्त्रता का आनन्द देखी हुई जनता सामन्तवाद को नहीं अपना सकी और फिर स्वतन्त्र हुई । तत्पश्चात् मिस्र साम्राज्य-वाद की ओर अग्रसर हुआ । इस समय मिस्र का सैनिक बल अद्वितीय था तथा पड़ोसी राज्यों पर इसका भयंकर आतंक स्थापित हो गया था । इस समय मिस्र की प्रगति प्रशंसनीय थी । तत्कालीन कुछ पत्रों की प्राप्ति से यह पुष्टि होती है कि उस समय मिस्र की राजनैतिक एवं सामाजिक स्थिति आदर्श रूप में थी । उनके सैनिक संगठन में जहाजी बेड़ा भी सम्मिलित था । आमनहोटप इस समय का प्रसिद्ध सम्राट था । अपनी विलक्षण प्रतिभा एवं शासन कौशल के कारण वह विश्व के इतिहास में महत्वपूर्ण माना जाता है । उसने विश्व को सत्य, सरलता और ईमानदारी की शिक्षा दी । धार्मिक क्षेत्र में उचित और आवश्यक सुधार किये परन्तु उसकी मृत्यु के बाद ये सुधार समाप्त होगये ।

अन्त में साम्राज्यवाद का पतन भी आरम्भ हुआ । अफ्रीका तथा भूमध्यसागर के निवासियों ने मिस्र पर आक्रमण करने आरम्भ कर दिए और इसे जीत लिया परन्तु मिस्र चैतन्य रहा, कभी स्वतन्त्र और कभी परतन्त्र । अन्त में सिकन्दर महान् ने सन् ३३२ ई० पू० मिस्र को जीत लिया । फिर अंग्रेजों के आधीन रहकर १४ मार्च सन् १९२२ को इसे स्वतन्त्रता मिली और अब कर्नल नासिर की अध्यक्षता में वास्तविक स्वतन्त्र संघ की स्थापना हुई है । इस प्रकार प्रारम्भिक अवस्था में नगर राज्य स्थापित किये थे और मिस्र के निवासी अपने शासकों को देवता समझते थे । उनके जीवनकाल में पूजा तथा मृत्यु के बाद प्रतिमाओं की स्थापना की जाती थी । ये शासक स्वच्छन्द तो होते थे, किन्तु शासन प्रबन्ध बड़ी योग्यता से करते थे । एक प्रधान मन्त्री होता था और न्याय संपादन उसका प्रमुख कार्य होता था । शासन की सुविधा के लिए राज्य कई भागों में विभाजित होता था । प्रत्येक भाग 'नार्म'

कहलाता था और उसका अधिपति 'नार्माधीश' कहाता था।

ऐसी व्यवस्था होते हुए भी प्रजा के साथ व्यवहार अच्छा नहीं होता था। दास प्रथा के कारण नागरिकों का सम्मान नहीं था। वे उपज के रूप में ही कर देते थे। सिंचाई का प्रबन्ध अच्छा था और इसके लिए विशेष कर भी लगाया जाता था और यदि समय पर भुगतान नहीं होता था तो सिंचाई की व्यवस्था बन्द भी कर दी जाती थी। इस प्रकार शासन प्रबन्ध की व्यवस्था की गई थी।

सामाजिक व्यवस्था—मिस्र की सामाजिक व्यवस्था बहुत सरल थी। यद्यपि सम्राट और शासक वर्ग वैभवशाली था तथापि साधारण जनता सन्तुष्ट नहीं थी। उन्हें बहुत सारे कर और शुल्क चुकाने पड़ते थे। बेगार प्रथा थी। दासों की स्थिति अति दयनीय थी। अन्य सभ्यताओं की भांति यहाँ भी समाज में श्रेणियाँ थीं। समाज में शासक का स्थान सर्वोपरि था। उसके पश्चात् प्रथम श्रेणी में पुजारी वर्ग था जो धनी एवं बुद्धिजीवी होता था। दूसरी श्रेणी में सामन्त वर्ग था जो शांति के समय शासक की सेवा तथा युद्ध के समय सहायता करता था, तीसरी श्रेणी में कृषक वर्ग था। इस वर्ग की संख्या अधिकतम थी। शिल्पकार-वर्ग अपना अलग अस्तित्व रखता था और अन्तिम था दास वर्ग। पारिवारिक संगठन मातृ सत्तात्मक होते थे और नारी का यथोचित सम्मान था। बहु विवाह प्रथा प्रचलित थी किन्तु केवल उच्च वर्गों में ही। स्त्री पुरुष में परस्पर स्निग्ध स्नेह होता था और विश्वास करते थे। भगिनी-विवाह भी प्रचलित था; किन्तु रक्त शुद्ध रखने की दृष्टि से। महिलायें स्वतन्त्र रूप में सम्पत्ति की उत्तराधिकारी या स्वामिनी बन सकती थीं तलाक की प्रथा भी थी, किन्तु अत्यल्प। अँगूठी, जंजीर, कुंडल आदि आभूषणों की प्रथा थी और समाज का मुख्य व्यवसाय कृषि, पशुपालन तथा शिल्प और हस्तकौशल था।

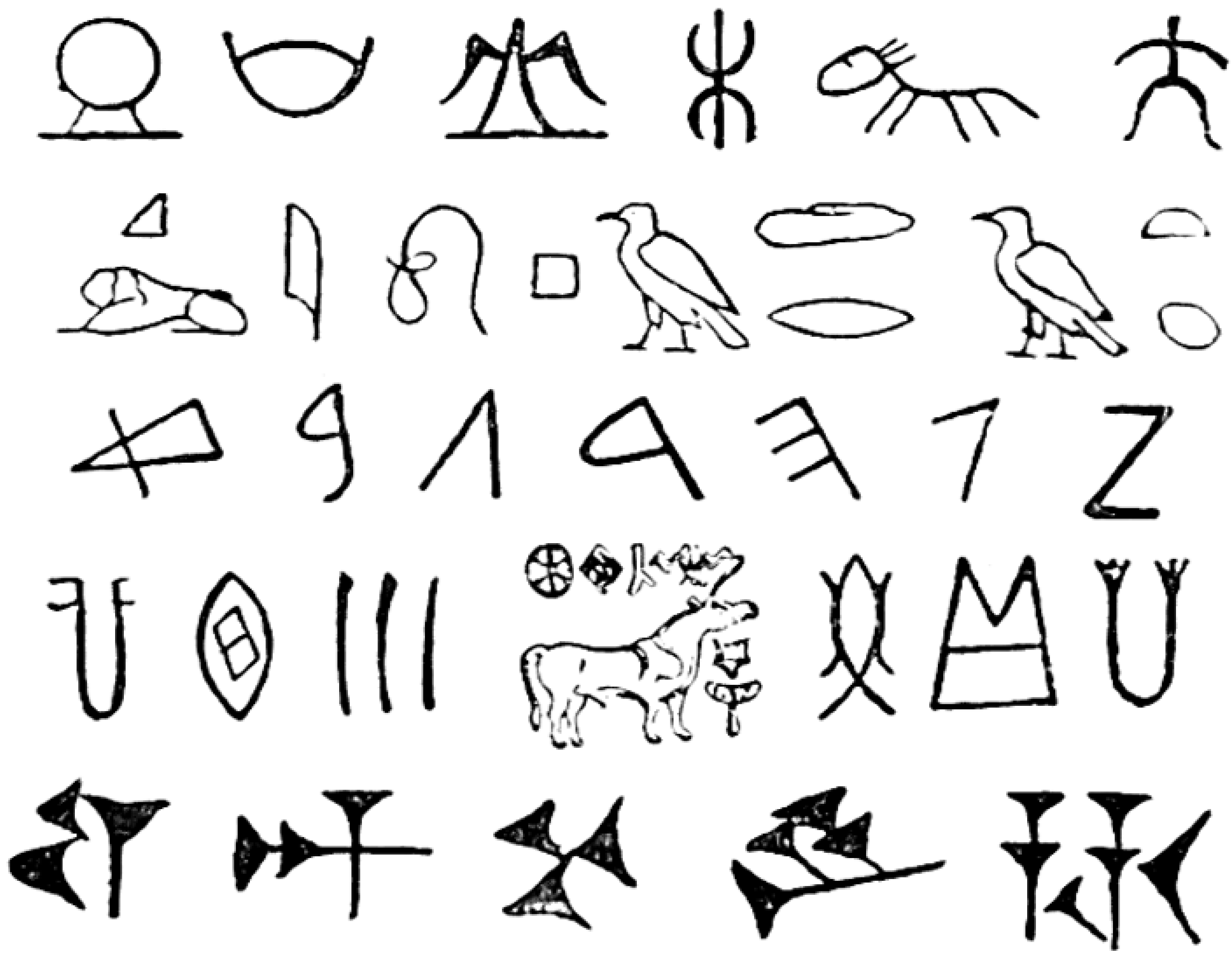
धर्म और दर्शन—मिस्र का धार्मिक जीवन भारतवर्ष की तरह का था। वहाँ अनेक देवी देवताओं की मान्यता थी और उनकी उपासना होती थी। कृषि प्रधान देश होने के कारण आकाश, पृथ्वी, पाताल आदि को पूजते थे इन सबके उनके यहाँ अलग अलग नाम थे जैसे पृथ्वी को 'हाथोर', आकाश को 'सिबु', चन्द्रमा को 'सिन' और सूर्य को 'होरस' कहते थे। वे पशुओं की भी उपासना करते थे। सांड एवं बकरे विशेष पूजनीय माने जाते थे। उनका मत था कि देवता पशुओं में निवास करते हैं। भारतवर्ष में देवताओं का सम्पर्क पशुओं से उनके वाहन के रूप में स्वीकार किया गया है। मिस्र के शासक वर्ग का जीवन भी धार्मिक सिद्धान्तों से नियन्त्रित होता था। वे भूमि का एक तिहाई मन्दिरों के लिए व्यय करते थे। देवालय अनेक होते थे और उनकी मान्यतायें भी पृथक होती थीं। एक सम्राट ने एकेश्वरवाद भी स्थापित किया था। मिस्र के निवासी आत्मा के आवागमन के सिद्धान्त (पुनर्जन्म) को भी मानते थे और मुक्ति में विश्वास करते थे। मृत शरीरों की वे बड़ी सुरक्षा करते थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने आश्चर्यजनक मसालों का आविष्कार भी किया था जिससे शव सदियों तक उसी रूप में रहते थे। शव के रखने का स्थान बहुत सुन्दर बनाते थे, दीवारों पर उसके जीवन की घटनाओं के चित्र तथा अन्य भोग-

विलास की सामग्री भी रखते थे। पत्थर की ऐसी सन्दूकें मिली हैं जिनमें हजारों वर्ष पुराने शव उसी रूप में रक्खे हैं। इन्हें 'ममी' कहते हैं।

कला-कौशल—मिस्र की सभ्यता कला के क्षेत्र में भी अग्रणी रही है। उन की स्थापत्यकला पर्याप्त रूप में विकसित हो चुकी थी। भवन मिट्टी एवं लकड़ी की सहायता से बनते थे, छतें भी लकड़ी तथा पत्थरों से बनाई जाती थीं। भवनों में उद्यान भी रक्खे जाते थे। खम्भों की प्रथा चल पड़ी थी। कारनाक का देवालय और तत्कालीन पिरामिड उस समय की वास्तुकला के जीवित उदाहरण हैं। आज भी यह अनुमान लगाना कठिन होता है कि उस प्राचीन युग में पिरामिड कैसे बनाए होंगे। एक पिरामिड की ऊँचाई ४५० फीट, एक भुजा की लम्बाई ७५० फीट है। लगभग ढाई-ढाई टन वजन के २३ लाख पत्थर के टुकड़े उनमें लगे हुए हैं। मूर्ति-कला भी उस समय विकसित हो चुकी थी और यह माना जाता है कि उस समय संसार का कोई भी देश मिस्र की तुलना में खड़ा होने की क्षमता नहीं रखता था। तत्कालीन पक्षी, पशु और मानव की मूर्तियाँ आज भी सुरक्षित हैं। इनमें स्फिक्स (sphinx) की मूर्त्ति विशेष उल्लेखनीय है। इस प्रतिमा का शरीर सिंह का सा और सिर मानव का सा है। यह बहुत तेजस्वी प्रतीत होती है। यह एक सौ आठ फीट लम्बी और सत्तर फीट ऊँची है। इसका सिर तैंतीस फीट लम्बा और लगभग चौदह फीट चौड़ा है। इसका निर्माण परिष्कृत मूर्त्तिकला के सिद्धान्तों के अनुसार हुआ है। कारनाक का देवालय भी कला, सौंदर्य और विशालता की दृष्टि से विश्व में अनूठा है। यह लगभग दो फर्लांग लम्बा है। इसकी कुर्सी ३३८ फीट लम्बी तथा १६० फीट चौड़ी है। इसमें खम्भों की सोलह पंक्तियां हैं जिनमें कुल १३६ खम्भे हैं। बीच के बारह खम्भों में प्रत्येक ७९ फीट लम्बा है और इसके ऊपर के सिरे पर लगभग एक सौ आदमी सुविधापूर्वक स्थान ग्रहण कर सकते हैं। ऐसे यहाँ अनेक मन्दिर हैं। उस समय इनकी शोभा अद्वितीय होगी। भारत और मिस्र में विशाल प्रतिमायें बनाने का युग बहुत समय तक रहा है। चित्रकला का आरम्भ भी हो गया था। देवालयों और पिरामिडों की भित्तियों पर चित्रकला के कुछ प्रमाण मिलते हैं। परन्तु ऐसा अनुमान है कि उस समय यह केवल वास्तुकला की सहायिका के रूप में ही रही होगी, स्वतन्त्र रूप में नहीं।

भाषा और साहित्य—भाषा के क्षेत्र में भी मिस्र की सभ्यता प्राचीनतम सिद्ध होती है। तत्कालीन प्राप्त लेखों से यह प्रमाणित होता है कि लगभग ३५०० वर्ष ईसा से पूर्व भी मिस्र वालों को भाषा का ज्ञान था। सर्वप्रथम चित्र भाषा फिर चित्र लिपि के साथ विचार लिपि और अन्त में वर्ण-लिपि का विकास हुआ था। फिर भी उन्हें स्वर ज्ञान नहीं था, केवल चौबीस व्यंजनों की वर्णमाला का विकास हुआ था।

मिस्र की चित्र लिपि



इस प्रकार लेखन कला का आश्चर्यजनक आविष्कार सर्वप्रथम मिस्र में हुआ था। वे चित्रों, संकेतों और व्यंजनों की सहायता से अपने विचार व्यक्त करते थे। उनकी लेखन सामग्री में सरकण्डे की लेखनी, स्याही तथा पेपीरस कागज और दवात होती थी। पेपीरस कागज एक वृक्ष के तने को पतला काटकर विशेष ढंग से बनाया जाता था। इसीलिए इसका नाम आज भी पेपर ही कहा जाता है। इंगलैंड के संग्रहालय में तत्कालीन प्राप्त कागजों के अवशेष विद्यमान हैं। इन्हीं साधनों की सुविधा से साहित्य की सर्वांगीण उन्नति सम्भव हुई थी। इतिहास, धर्मशास्त्र, गणित आदि विषयों पर बहुत खोज हुई थी और ठोस ज्ञान प्रकट हुआ था।

विज्ञान—इस क्षेत्र में भी मिस्र की सभ्यता बहुत आगे थी। शव की सुरक्षा के मसाले, पिरेमिडों की रचना, कागज, स्याही, कलम आदि का आविष्कार तथा गणित जैसे गम्भीर विषयों का अध्ययन उनकी वैज्ञानिक सूझ बूझ की गहराई के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। गणित के साथ ज्योतिष का और तदनुसार प्रथम पंचांग की रचना इन्हीं के द्वारा हुई। एक वर्ष में ३६५ दिन, १२ मास और प्रत्येक मास में ३० दिन की व्यवस्था भी मिस्र में ही पहले पहल हुई थी उस समय चिकित्सा के क्षेत्र में ही मिस्र अग्रणी था। 'इम्होटप' प्रसिद्ध चिकित्सक था और वहां ४८ प्रकार की शल्य चिकित्सा (Operations) प्रचलित थी। रेखागणित के साथ भूमि का नाप तौल भी आरंभ हुआ किन्तु फिर भी उस समय तक दशमलव प्रणाली, गुणा, भाग आदि से वे लोग अपरिचित ही थे।

इस प्रकार प्राचीन मिस्र की सभ्यता अत्यन्त उन्नत अवस्था पर पहुँच कर

विलीन हो गई। अपनी भावी सन्तान के लिए संस्कार अथवा सभ्यता के रूप में कुछ भी नहीं छोड़ सकी। प्राचीन कीर्ति, गौरव तथा ऐश्वर्य के प्रमाण स्तूप, पिरामिड, ममी तथा देवालय तो विद्यमान हैं किन्तु वर्तमान मिस्र के लिए उनकी अमूल्य देन नहीं के समान है।

दजला-फरात की घाटी की सभ्यता

नदी कालीन सभ्यताओं में इस घाटी की सभ्यताओं का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यह भी मिस्र की सभ्यता की भाँति अति प्राचीन हैं। इसी भाग में सुमेरियन, बेबीलोन, असीरिया और खाल्दियन सभ्यतायें एक के बाद एक क्रमशः विकसित हुई थीं। आजकल इस प्रदेश को ईराक कहते हैं। यह भाग नदी के किनारे होने के कारण प्रारम्भ से ही बहुत उपजाऊ था, इसीलिए सभ्यताओं का विकास हो सका।

सुमेरिया की सभ्यता

निप्पड़, जो इस सभ्यता का प्रमुख नगर था, वहाँ पर प्राप्त खण्डहरों से पता चलता है कि इस सभ्यता का जन्म ई० पू० ६००० वर्ष से भी पहले हुआ था। ये लोग कहाँ से आए और कौन थे यह अभी तक स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता। अनुमान है कि वे मध्य एशिया अथवा फारस की खाड़ी द्वारा भारत की ओर से यहाँ आए थे। इनकी सभ्यता बहुत प्राचीन तथा विकसित रही है और संम्भवतः हर क्षेत्र में उन्नतिशील भी रही थी।

राजनैतिक व्यवस्था—सुमेरियन्स बलिष्ठ तथा सुगठित होते थे और आकृति आकर्षक होती थी। इन्होंने कई नगर राज्य बसाये थे। और सब नगर राज्य एक ही साम्राज्य में ग्रथित थे। प्रत्येक नगर राज्य भीतरी शासन के लिए स्वतन्त्र होते थे और सम्भवतः पुरोहित वहाँ का शासक होता था। परन्तु बाद में इन्हीं नगर राज्यों के पारस्परिक वैमनस्य के कारण सुमेरियन साम्राज्य का ह्रास हुआ। फिर भी सभ्यता जीवित रही और बाद में बेबीलोन की सभ्यता को जन्म दिया। यहाँ की न्याय व्यवस्था सुगम थी किन्तु नियम कठिन थे। मन्दिरों में न्याय किया जाता था। शासक सर्वोच्च न्यायाधीश होता था और न्याय द्वारा स्वयं शासक भी बँधा हुआ होता था।

सामाजिक व्यवस्था—यहाँ के समाज में कई वर्ग होते थे परन्तु प्रमुख तीन वर्ग थे। अमीर गरीब का भेद बहुत था। पंडित और सैनिक का समाज में सम्मान था। वे उच्च वर्ग में माने जाते थे। दास प्रथा प्रचलित थी; परन्तु वे प्रसन्न रहते थे। विवाह पद्धति मान्य हो गई थी और तत्सम्बन्धी अनेक नियम भी प्रचलित थे। दहेज भी प्रचलित था और वह स्त्री-धन माना जाता था। स्त्री फिर भी पुरुष सम्पत्ति मानी जाती थी और पुरुष अपनी पत्नी को बेच भी सकता था। तलाक प्रथा थी किन्तु केवल वन्ध्या स्त्रियों के लिए सीमित थी। आचरणहीन पत्नी को प्राणदण्ड भी दिया जा सकता था। स्त्रियाँ सौंदर्य साधन के अनेक उपकरणों का

प्रयोग करती थीं।

यहाँ की भूमि उपजाऊ थी। इसलिये प्रमुख व्यवसाय कृषि ही था, इसमें भी प्रगति हुई थी। हलों में सुधार, बीज रखने का प्रबन्ध और सिंचाई आदि साधनों का पर्याप्त प्रचार हुआ था। बड़े-बड़े बाँध और नहरें बनवाई गई थीं। पशु पालन, मछली पकड़ना, वस्त्र बनाना, तथा अन्य उद्योग धन्धों का प्रचार भी था; किन्तु फिर भी समाज अनेक व्यवसाय होते हुए भी पूर्ण रूपेण समृद्ध नहीं था।

धार्मिक आदर्श—सुमेरियन लोग कई देवताओं को मानते थे। सूर्य (शमश), वायु (अनिल), आकाश (अनु), पृथ्वी (इश्तर), जल, कृषि, वनस्पति आदि सभी को वे देवता मानकर पूजा करते थे। भूत-प्रेत में भी उनका विश्वास था। ये देवताओं को मानवीय रूप में ही मानते थे। उनकी सुन्दर मूर्तियाँ स्थापित करते थे। बलि भी चढ़ाते थे, कभी कभी नर-बलि की व्यवस्था भी थी। वे लोग आत्मा को अमर मानते थे और मृतक के साथ उसकी प्रिय वस्तुओं को रखते थे। कभी कभी तो इसी कारण पत्नी या प्रेयसी को भी जीवित ही दफना देते थे। यह प्रथा अन्यत्र कहीं नहीं थी।

साहित्य और कला—लेखन कला इस सभ्यता की प्रमुख विशेषता थी। सुमेरियन लोग मिट्टी की पट्टियों पर नुकीली लेखनी से लिखते थे इसीलिये इसे 'कीलाक्षर' या 'सूच्याकार लिपि' का नाम दिया गया है। यह भी चित्र-लिपि के आधार पर ही विकसित हुई थी और अक्षर दायें से बायें की ओर लिखे जाते थे। पत्थर प्राप्य न होने से वास्तुकला में वे अधिक प्रगति नहीं कर सके किन्तु फिर भी भवन निर्माण में मेहराब, स्तम्भ, गुम्बज आदि का प्रचुर प्रयोग हुआ है। मूर्तिकला में भी वे निपुण थे। विशेष आवश्यकताओं के लिए पत्थर बाहर से मँगाते थे। शेष काम पकी हुई ईंटों से करते थे। देवालयों की स्थापना में वे अपनी कला प्रदर्शित करते थे। साहित्यक क्षेत्र में भाषा, विधान, गणित आदि के वे पारंगत थे। चन्द्रमा की विभिन्न कलाओं का अध्ययन कर इन्होंने भी पंचांग बनाया था और कई नवीन ग्रहों की खोज की थी। उनकी गणना ६० से आरम्भ होती थी। ६० सेकिण्ड का एक मिनट, ६० मिनट का एक घण्टा आदि। अन्य सभ्यताओं को इस विज्ञान से बहुत लाभ हुआ।

महत्त्व—अति प्राचीन सभ्यता होते हुए भी आज यह सभ्यता अधिक प्रसिद्ध नहीं है परन्तु फिर भी लेखन कला, विज्ञान आदि इस सभ्यता की कुछ ऐसी अनुपम देन हैं जिसके कारण इसको भुलाया नहीं जा सकता।

बेबीलोन की सभ्यता

सुमेरिया की सभ्यता के विध्वंस पर हम्मू राबी ने बेबीलोन की सभ्यता को स्थापित किया। इसका समय २२०० ई० पू० से १३०० ई० पू० माना जाता है। हम्मू राबी बहुत ही कुशल और न्यायप्रिय शासक था। उसके समय में इस सभ्यता ने बहुत उन्नति की; किन्तु बाद में विलास और सुख के आधिक्य के कारण

नागरिकों में दुर्बलता छा गई। तब असीरिया के लोगों ने इन्हें परास्त कर अपना शासन स्थापित कर लिया।

राजनैतिक व्यवस्था—इस सभ्यता के समय अनेक शासक हुए ; किन्तु स्पष्ट ज्ञान केवल हम्मू राबी के समय का ही मिलता है, औरों का प्रसंग उपलब्ध नहीं है। हम्मू राबी ने अपने शासन सम्बन्धी नियम अशोक की भाँति विशाल स्तम्भों पर अंकित करा दिए थे। शासन क्षेत्र में राजा ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था इसीलिए साधारण जनता उसकी आज्ञाओं का पालन करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझती थी। शासन की दृष्टि से साम्राज्य, प्रांत, प्रदेश आदि भागों में विभक्त था। शासन विधान के रूप में एक 'विधि-संहिता' भी विद्यमान थी जिसमें लगभग २८० नियम संग्रहीत थे। उस समय का सामान्य सिद्धान्त "शठम् शाष्ठ्यम समाचरेत्" के आधार पर था। जैसे यदि मकान गिरने से किसी की मृत्यु हो जाय तो मकान निर्माता राज प्राणदण्ड का अधिकारी होता था। न्याय की स्थापना के लिए कई प्रकार के न्यायालय बनाये हुए थे और क्रमशः कनिष्ट न्यायालय से उच्च न्यायालयों में पुनः प्रार्थना (Appeal) भी होती थी। नियमों का पालन कठोरता से होता था और दण्ड भी भयंकर दिया जाता था। घूस लेना अपराध था और उसके लिये दण्ड का विधान था।

सामाजिक व्यवस्था—यहाँ भी समाज में अनेक वर्ग थे किन्तु उनमें तीन प्रमुख थे, उच्च वर्ग (अमेल), मध्यम वर्ग (मुशकिनु), और निम्न वर्ग (अरदू)। निम्न वर्ग यहाँ भी दासों का होता था। उच्च वर्ग को राजनैतिक व सामाजिक विशेष अधिकार प्राप्त थे। मध्यम वर्ग साधारणतया स्वतन्त्र था परन्तु युद्ध के समय उसे सेना में सम्मलित होना पड़ता था। यहाँ का पारिवारिक जीवन सुन्दर था। स्त्री का सम्मान होता था और वह सम्पत्ति की स्वामिनी हो सकती थी। उसे विवाह-विच्छेद (तलाक) का भी अधिकार था। आचारहीन स्त्री पुरुष पतित समझे जाते थे और कठोर दण्ड के भागी होते थे। इस समाज में अस्थायी विवाह पद्धति (Trial Marriage) भी प्रचलित थी जो मुसलमानों में प्रचलित मूता शादी की भाँति होती थी। विवाह के अवसर पर कोई विशेष संस्कार नहीं होता था। स्त्रियाँ भी स्वतन्त्र व्यवसाय कर सकती थीं। पुत्रोत्पत्ति न होने पर गोद लेने की प्रथा भी थी।

धार्मिक व्यवस्था—ये भी सुमेरियन लोगों की भाँति अनेक देवताओं में विश्वास करते थे। लगभग ६५ हजार इनके देवता थे, जिनमें आकाश (अनु), सूर्य (शमश), चन्द्रमा (नन्नर) और पृथ्वी (बेल) मुख्य थे। राजा नगर का प्रतिनिधि देवता माना जाता था और साधारणतया प्रत्येक परिवार का एक अलग देवता होता था। देवताओं की प्रतिमायें बनाई जाती थीं, उन्हें मन्दिरों में स्थापित किया जाता था और तब उनकी उपासना होती थी। देव दासी प्रथा, बलि प्रथा आदि प्रचलित थीं। 'मरदुक' बेबीलोनिया का कामदेव था। 'इश्तर' प्रेम का देवता था। ऐसी अवस्था में पुजारी और पुरोहित स्वाभाविक रूप में प्रधान होते थे और पूजा

विधि के विशेषज्ञ होते थे। उन्हीं की अध्यक्षता में धार्मिक कार्य संचालित होते थे।

साहित्य और कला—इस क्षेत्र में अत्यन्त अद्भुत बात यहाँ के विद्यालयों की है। संभवतः विद्यार्थियों के पढ़ने के लिए विश्व की सर्वप्रथम पाठशाला यहीं स्थापित हुई थी। विद्यार्थी नरम चिकनी मिट्टी की स्लेटों पर लिखते थे और वर्णमाला का प्रयोग न जानने के कारण संकेतों का प्रयोग करते थे। लेखकों का समाज में बहुत सम्मान होता था। खुदाई से प्राप्त एक विद्यालय के खण्डहर की भित्ति पर यह लेख मिला है कि "जो कुशल लेखक हैं वे सूर्य की भाँति चमकेंगे"। इस विद्यालय का विस्तार ५५ वर्ग फीट है। उनकी लिपि में लगभग ३०० शब्द खण्ड के संकेत थे और इसे ध्वन्यात्मक लिपि कहते थे। साहित्य में ये लोग अधिक रुचि नहीं रखते थे, फिर भी साधारण गति अवश्य थी। कला में वे निपुण थे। स्थापत्यकला का उदाहरण 'जिग्गुरात' थे जिनकी मीनारों की ऊँचाई ६५० फीट तक होती थी। मूर्तिकला में वे हाथ नहीं बँटा सके, संगीत कला में वे बहुत रुचि रखते थे। इस क्षेत्र में बाँसुरी, बीज, मशक, तुरही, भोंपू, ढोल, वीणा, मञ्जीरा आदि वाद्ययंत्रों का प्रयोग खूब होता था। फिर भी यहाँ के लोगों ने व्याकरण, शब्दकोष और भाषा विज्ञान के क्षेत्र में भी उन्नति अवश्य की थी। 'गिलगमिश' यहाँ का प्रसिद्ध महाकाव्य है जो बारह सर्गों में विभक्त है, विज्ञान के क्षेत्र में गणित का यहाँ जन्म हुआ और समुद्री मार्गों का व्यापार में प्रयोग हुआ, इसके कारण ज्योतिष शास्त्र का भी विकास हुआ। खगोल विद्या का विकास भी यहीं से आरम्भ हुआ माना जाता है।

महत्व—यद्यपि यह सभ्यता प्रसिद्ध बहुत है परन्तु फिर भी मानव कल्याण के लिए विशेष लाभदायक नहीं हो सकी। यूनान ने इस सभ्यता से बहुत कुछ सीखा है। गणित, ज्योतिष, स्थापत्यकला, विज्ञान आदि में विश्व और विशेषकर यूरोप इस सभ्यता का सदैव आभारी रहेगा।

प्राचीन भारत (सिन्धु की घाटी) की सभ्यता

सन् १९२२ तक भारतीय सभ्यता के सम्बन्ध में अनुमान के आधार पर यह समझा जाता था कि यह लगभग ३००० वर्ष पुरानी है; किन्तु भारतीय पुरातत्त्व विभाग के सर मार्शल के तत्त्वावधान में हड़प्पा[1] और मोहिनजोदड़ो[2] की खुदाई करवा कर जो अवशेष प्राप्त किए उसके आधार पर अब भारतीय संस्कृति का रूप निखर गया है। अब भारत की प्राचीन सभ्यता कम से कम ५००० वर्ष पुरानी उस समय की झाँकी जाती है जब यह उन्नति की चरम सीमा पर थी। अर्थात् इसके विकास का आरम्भ तो और भी पुराना है। कुछ इतिहासकारों के मतानुसार अब इसे सिन्धु घाटी की सभ्यता कहना भी उचित नहीं है क्योंकि यह सभ्यता गंगा की घाटी,

---

१. हड़प्पा रावी नदी के तट पर पाकिस्तान की सीमा में है। सर्वप्रथम यहीं पर मुहरें प्राप्त हुई थीं जिनके आधार पर खुदाई हुई।

२. मोहिनजोदड़ो, हड़प्पा से लगभग ४०० मील दूर (सिन्ध प्रान्त में) पाकिस्तान में ही है।

सम्पूर्ण राजस्थान, पंजाब, सिन्धु और गुजरात तक व्याप्त थी। इसलिए इसे प्राचीन भारत की सभ्यता कहना ही उपयुक्त है। राजस्थान के उदयपुर नगर के आयड़ भाग में हाल ही की खुदाई के फलस्वरूप ऐसे प्रमाण मिले हैं जो मोहिनजोदड़ो के प्राप्त अवशेषों के समकालीन अथवा उससे भी प्राचीन ठहरते हैं। अतः इस सभ्यता को हम प्राचीन भारत की सभ्यता ही कहेंगे। डा० राधाकुमुद मुखर्जी का मत है कि हमारी भारत की सभ्यता विश्व की प्राचीनतम सभ्यता थी और अन्य विद्वान भी इस विचार से सहमत हैं।

नगरों की योजना और निर्माण—उक्त नगरों की खुदाई के फलस्वरूप प्राप्त अवशेषों से यह प्रकट होता है कि नगर किसी योजना के अनुसार बसाए गए थे। सड़कों पर अनेक चतुष्पथ हैं जो पूरे समकोण बनाते हैं। मार्ग और उपमार्ग (गलियाँ) भी सीधे हैं तथा मोड़ पर समकोण बनाते हैं। मार्गों की दिशा पूर्व-पश्चिम अथवा उत्तर-दक्षिण ही है। प्रधान सड़क की चौड़ाई ३६ फीट है तथा दूसरी सड़कें १८ फीट, १२ फीट तथा ६ फीट चौड़ी हैं। भवन साधारणतया दो मंजिल के होते थे और पक्की ईटों के बने होते थे। निर्धन व्यक्तियों के मकान मिट्टी के बने होते थे। स्तम्भ, रसोई और नालियों की व्यवस्था भी उन भवनों में होती थी। स्तम्भ चौकोर होते थे। रसोईघर का निर्माण विशेष ढंग से होता था। उनमें चूल्हों की ऐसी व्यवस्था थी कि एक ही बार में कई वस्तुएँ तैयार की जा सकें। दीवारों पर मिट्टी का प्लास्टर होता था (राजस्थान में जिसे 'गारा' करना कहते हैं, इसमें नदी की चिकनी मिट्टी, पुराना भूसा आदि डालकर तैयार किया जाता है और कच्चे मकानों की दीवारों पर इसी को लगाया जाता है) इस पर गोबर लीपा जाता था और फिर खड़िया से पुताई होती थी। तत्कालीन भवनों में गन्दा पानी बाहर निकालने के लिए नालियाँ भी थीं और उनका क्रमशः घर की नाली का, मोहल्ले की नाली से और उस नाली का नगर की बड़ी नाली से सम्बन्ध होता था और इस प्रकार समस्त नगर का गन्दा पानी बाहर पहुँचा दिया जाता था। वर्तमान समय की गटर प्रणाली उसी ढंग पर बनी प्रतीत होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि स्वच्छता और सफाई तथा स्वास्थ्य के प्रति वे लोग बहुत सजग थे। मकानों में खिड़कियाँ तथा सीढ़ियाँ होती थीं और लगभग हर भवन में एक कुआँ भी होता था।

सार्वजनिक-स्नानागार—आजकल के तरण-तालों (Sweening Pools) की भाँति प्राचीन काल में भी सार्वजनिक स्नानागारों की व्यवस्था थी। इस स्नानागार की लम्बाई ३९ फीट, चौड़ाई २३ फीट तथा ऊँचाई ८ फीट है। ऐसा भी स्नानागार मिला है जिसमें ग्रीष्म जल का प्रबन्ध था। गन्दा पानी बाहर निकालने की भी व्यवस्था इसमें थी। इसके चारों ओर आठ कमरे बने हुए हैं और प्रत्येक कमरे के साथ एक एक स्नानघर है। एक सामन्त भवन भी साथ में है जो २०० फीट लम्बा और ११५ फीट चौड़ा है। इसकी दीवारें पाँच फीट चौड़ी हैं। अनुमान किया जाता है कि या तो यह किसी सम्पन्न व्यक्ति का भवन था अथवा कोई सार्वजनिक स्थान, जैसे कर रूप में इकट्ठा किया हुआ अनाज रखने का गोदाम आदि।

सामाजिक व्यवस्था—उस समय कृषि जनता का मुख्य व्यवसाय था, गेहूँ और जौ बहुत उत्पन्न होता था फिर भी मांसाहारी थे। सूती और ऊनी दोनों प्रकार के वस्त्र पहनते थे। आभूषणों का प्रचार था और बहुत सुन्दर-सुन्दर आभूषण बनाए जाते थे। स्त्री-पुरुष सभी आभूषण धारण करते थे। उस समय के अलंकारों से भरे दो तीन घड़े प्राप्त हुए हैं। बाल संवारने की भी अनेक प्रकार की कलाएँ विकसित थीं। स्त्रियाँ अपना सिर ढका हुआ रखती थीं इसलिए उनके केश विन्यास की कला स्पष्ट नहीं दिखाई देती। पुरुष मूंछे नहीं रखते थे किन्तु दाढ़ी बढ़ाने की प्रथा थी। उस समय बटन भी प्रयोग में आते थे जो ताँबा, राँगा आदि के होते थे। तीन दर्पण भी मिले हैं, काजल का डिब्बियाँ भी मिली हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि आँखों की दृष्टि की रक्षा के लिए काजल का प्रयोग सभी नर-नारी बहुतायत से करते थे। उबटन का प्रयोग भी किया जाता था। हाथी दाँत का काम भी होता था। समाज में सुईयाँ और सिलाई का प्रचार भी था और सीने की सुइयाँ भी होती थीं। आमोद-प्रमोद के लिए खिलौने बनाए जाते थे और उनमें बैलगाड़ी का अधिक प्रचार था। मिट्टी की टूटी हुई बैलगाड़ियाँ बहुत संख्या में प्राप्त हुई हैं। पक्षियों के पालने की प्रथा भी थी। उनके पिंजरे और खिलौने भी प्राप्त हुए हैं। सामाजिक जीवन की अर्थ-व्यवस्था में तराजू एवं बाट की प्रथा भी विकसित हो चुकी थी। नागरिकों के मनोरंजन के हेतु शतरंज, चौपड़ आदि का प्रचलन था। संगीत कला का भी विकास हो चुका था, ढोल, गुरगुड़ी (राजस्थान में इसे राई-गुरगुरी भी कहते हैं जो अब भी विशेष अवसरों पर बजाई जाती है) तथा ताशों का प्रचार था। अब भी गांवों में कभी-कभी इसका प्रयोग होता है। राजस्थान में इसे अड़बीताशा (मजाक में पेटकूटा) कहते हैं जो शायद अरबी ताशा का अपभ्रंश है। सम्भव है अरब में यह बाजा काम में आता हो और मुसलमानों के सम्पर्क से यहाँ आया हो। आर्थिक दृष्टि से ये लोग बहुत सम्पन्न थे। बाहर के देशों से व्यापार करते थे और रत्न, टीन, ताम्र आदि मंगाते थे। तत्कालीन स्वर्ण मुद्राएं और आभूषण इसके प्रमाण हैं।

धार्मिक व्यवस्था—उनके धार्मिक विश्वास क्या थे यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। न तो उस समय के कोई देवालय मिले हैं और न कोई और ऐसा प्रमाण। मूर्तियाँ अधिकांश खण्डित ही मिली हैं। अनुमान यह लगाया जाता है कि ये लोग शाक्त धर्मावलम्बी थे और शिव-पार्वती के उपासक थे। अनेक प्रकार की प्रतिमाएँ मिली हैं। एक प्रतिमा शिव की मानी जाती है वह नग्न है। संभवतः यह किसी विशेष मुद्रा में चित्रित है। इसमें तीन सिर हैं और तीन सींग। देवियों की प्रतिमाएँ भी बड़ी संख्या में मिली हैं। संभवतः शिव की प्रतिमा के साथ ये पार्वती की प्रतिमा ही होगी। पशुओं की प्रतिमाएँ भी मिली हैं जिनमें हाथी, भैंसा, बैल, मींढ़ा आदि प्रमुख हैं। कदाचित् वर्त्तमान समय में जैसे दीपावली पर पशुओं की पूजा की जाती है उसी प्रकार प्राचीन काल में उन्हें दैव रूप में प्रतिमा बनाकर भी पूजा जाता होगा। पशु मानव के लिए सहायक तो सदा से रहे ही हैं। कालान्तर में वे ही पशु देवताओं के वाहन के रूप में स्वीकार किए गए हैं। पीपल का वृक्ष

और उसे नमस्कार करती हुई महिला की प्रतिमा भी महत्वपूर्ण है। उस समय घड़ियाल, बन्दर, सर्प आदि की उपासना की भी प्रथा थी। शिवलिंग और योनिपट्ट भी पर्याप्त मात्रा में मिले हैं। शिव-पार्वती के ये लोग उपासक थे ही। अपने देवताओं की प्रतिमा के सामने नृत्य करने की प्रथा भी उस समय प्रचलित थी। ऐसी प्रतिमाएँ भी मिली हैं। सूर्य की प्रतिमाएँ भी मिली हैं। उस समय अन्य स्थानों में भी सूर्य पूजा प्रचलित थी। मृतकों का दाह-संस्कार होता था। उनकी भस्म कई घड़ों में भरी हुई मिली है और शायद दफनाने की प्रथा भी थी, ऐसे भी कुछ अवशेष प्राप्त हुए हैं।

साहित्य और कला—इन नागरिकों को लेखन कला का ज्ञान था। परन्तु उनकी लिपि का अध्ययन अभी तक सम्भव नहीं हो सका। यह चित्र लिपि है। मुद्राओं पर लेख अंकित हैं। कुल मिलाकर ऐसे ३९६ संकेत हैं जिनमें यह लिपि व्यक्त है। इस लिपि में प्रथम पंक्ति दाईं ओर से बाईं ओर और दूसरी पंक्ति बाईं ओर से दाईं ओर जाती प्रतीत होती है। बम्बई के डा० हेरास तथा काशी विश्व-विद्यालय के डा० प्राणनाथ ने इन्हें पढ़ने का प्रयास किया है परन्तु अभी वे सफल नहीं हुए। चित्रकला में ये लोग प्रवीण थे और साहित्यिक तो होंगे ही। यद्यपि साहित्यिक प्रगति के प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त नहीं हैं किन्तु जो कुछ अवशेष प्राप्त हुए हैं वे यह सिद्ध करने में समर्थ हैं कि यह एक बहुत उन्नत सभ्यता थी और बिना साहित्यिक प्रगति के सभ्यता एक चरण भी आगे नहीं बढ़ सकती थी।

महत्व—इस सभ्यता ने भारत को अपनी सभ्यता विश्व में अति प्राचीन सिद्ध करने में समर्थ बनाया है। स्थापत्य कला और धर्म का महत्व सिद्ध किया है। ऐसी समुन्नत सभ्यता केवल भयंकर प्रलय द्वारा ही विनाश को प्राप्त हुई होगी ऐसा अनुमान है। इन अवशेषों में राजा, सैनिक आदि के अवशेषों का नितान्त अभाव यह प्रगट करता है कि ये लोग शांतिप्रिय थे। शस्त्र जरूर मिले है किन्तु केवल भाले, तीर आदि और संभवतः तलवार से ये लोग परिचित नहीं थे। इस प्रकार आधुनिक भारत का मस्तक ऊँचा करने वाली यह हमारी भारतीय सभ्यता थी।

चीन की प्राचीन सभ्यता

चीन की प्राचीन सभ्यता भी मौलिक रूप से विकसित हुई थी। यह भी नदी कालीन सभ्यताओं में सम्मिलित है। ह्वांगहो और यांगटीसीक्यांग सरिताओं के प्रदेश में सर्वप्रथम इसका प्रादुर्भाव हुआ। यहाँ भी सर्वप्रथम नगर राज्यों की स्थापना द्वारा संगठन स्थापित हुए थे। लेखनकला भी चित्र और संकेतों द्वारा विकसित हुई। राजनैतिक, धार्मिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों में भी यह सभ्यता निरन्तर विकसित हुई थी। भारतीय सभ्यता की भाँति इस सभ्यता का समय भी ठीक रूप से निश्चित नहीं किया जा सका है। इसका संक्षिप्त अध्ययन अब अगले पृष्ठों में किया जायगा।

राजनैतिक व्यवस्था—सर्वप्रथम नगर राज्यों की स्थापना द्वारा प्रजातन्त्रात्मक

प्रणाली का ही प्रादुर्भाव हुआ था; किन्तु कालान्तर में प्रभावशाली व्यक्तियों द्वारा एकाधिपत्य जमा लिया गया और अन्त में साम्राज्य भी बन गया था। सम्राट ईश्वर के प्रतीक समझे जाते थे और इनकी इच्छा ही राज्य का नियम होती थी। प्रशासन की दृष्टि से यहाँ भी प्रांत, जिले आदि विभाजन किए गए थे। प्रारम्भिक सामन्त प्रथा भी दीर्घकाल तक यहाँ रही है। चीन में यह कहावत है कि ईसा से लगभग चार हजार वर्ष पूर्व यहाँ आदर्श शासक और आदर्श शासन व्यवस्था थी। प्राचीन राजवंशों में शुंग वंश, चाऊ (चू) वंश, चीन (सीन) वंश आदि उल्लेखनीय रहे हैं। चीन वंश का प्रमुख सम्राट शीवांगटी था जिसने हूणों के निरन्तर आक्रमणों से बचने के लिए प्रसिद्ध चीन की दीवार का निर्माण कराया। यह १८०० मील लम्बी है और दोहरी बनी हुई है। इसकी चौड़ाई २० फीट और ऊँचाई २२ फीट है। प्रत्येक १०० गज पर ४० फीट ऊँची मीनारों की व्यवस्था भी है। इस प्रकार राजनैतिक क्षेत्र में प्राचीन सभ्यता बहुत आगे बढ़ी हुई थी।

सामाजिक व्यवस्था—चीन का समाज प्रारम्भ से ही प्रजातांत्रिक रहा है। वहाँ पितृ प्रधान परिवारों की प्रथा थी और स्त्रियों का सम्मान भी बहुत था। नागरिकों की कुमारावस्था पर बहुत ध्यान दिया जाता था और विवाह राज्य की देखरेख में नियुक्त अधिकारी द्वारा सम्पन्न होते थे। बहु विवाह और विवाहविच्छेद दोनों की प्रथा थी। समाज शांतिप्रिय था। सैनिक बनना समाज का आदर्श नहीं था। समाज की व्यवस्था के लिए नागरिकों में वर्गीकरण अवश्य था। मण्डारिन, कृषक, कारीगर, अधिकारी और व्यापारी पाँच प्रमुख श्रेणियाँ थीं; किन्तु ये जन्म-जात नहीं थीं। इसलिए चीन में योग्यता ही प्रत्येक व्यक्ति या वर्ग के सम्मान की कसौटी रही है, जन्म नहीं। यहाँ का मुख्य व्यवसाय कृषि ही था परन्तु साथ में मछली मारना और व्यापार करना भी अधिक प्रचलित थे। घरों में महिलाएँ कातने, बुनने का कार्य करती थीं। रेशमी वस्त्र भी यहाँ तैयार होते थे। अंगूर की शराब भी बनती थी। यह विदेशियों के सम्पर्क का फल था। जल-घड़ी की प्रथा प्रचलित हो गई थी। इस प्रकार सामाजिक क्षेत्र में चीन बहुत आगे बढ़ा हुआ था।

धार्मिक आदर्श—पूर्वज पूजा यहाँ का मुख्य धर्म था। प्रकृति-पूजा भी प्रचलित थी। अनेक देवी देवताओं की मान्यता के साथ उन्हें प्रसन्न करने के लिये उपासना की जाती थी और बलि चढ़ाई जाती थी। धर्मान्धता और तन्त्र, टोना आदि भी प्रचारित थे। कालान्तर में चीन का धर्म कन्फ्यूशियस की विचार-धारा तथा भारत के बौद्ध धर्म से प्रभावित हुआ जो अभी साम्यवाद के पहले तक विद्यमान रहा।

भाषा, साहित्य और कला—यहाँ की लिपि की कठिनाई के कारण लेखन-कला दुरुह थी; किन्तु समाज में लेखकों का बहुत सम्मान था। सरकारी पदों पर ऐसे ही लोग चुने जाते थे जो कुशल लेखक हों। बाद में मन्त्री ली ने लिपि सुधार किया था। कागज का प्रचार भी हो गया था। पहले बांस व लकड़ी द्वारा किन्तु बाद में रेशम के बने कागजों का प्रयोग होने लगा था और बड़े बड़े ग्रंथ लिखे गये

थे। यहाँ का साहित्य भारत की भांति पद्यात्मक था। काव्य रचना अधिक होती थी। लीपों वहाँ का मुख्य कवि था। कला के क्षेत्र में चीनी सभ्यता कम नहीं थी। संगीत कला यूनानियों के प्रभाव से बहुत ही आगे बढ़ गई थी। उनका विश्वास था कि संगीत रहित जीवन व्यर्थ है। प्रस्तर कला के सुन्दर उदाहरण तत्कालीन कब्रों में मिले हैं। मिट्टी के चमकीले बर्तन बनाना उनकी विशेष कला थी। भारतवर्ष में आज भी "चीनी मिट्टी" शब्द का प्रयोग बहुतायत से होता है। कन्फ्यूशियस की प्रतिमा और मन्दिर वास्तुकला का सुन्दर उदाहरण है। उद्योग धन्धे भी बहुत विकसित थे। रेशम, चाय, बारूद, कागज आदि वस्तुओं का निर्यात भी होता था। मुद्रण, तथा कुतुबनुमा का आविष्कार भी यहाँ ही हुआ था। इसीलिए विश्वकोष की भांति कई ग्रन्थ यहाँ संकलित हुये हैं। इस प्रकार चीन की प्राचीन सभ्यता का स्थान विश्व के लिये महत्वपूर्ण है।

यूनान की प्राचीन सभ्यता

ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व तक यूनान जंगली देश था। केवल ईसा से १५०० वर्ष पूर्व यूनानी सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ है। अति प्राचीन न होते हुये भी पाश्चात्य देश इस सभ्यता के अत्यन्त ऋणी हैं। इस सभ्यता को जन्म देने वाले भी आर्य जाति के लोग ही थे। पहले यह लोग भ्रमणशील जीवन व्यतीत करते थे। बाद में कृषि कौशल सीख जाने पर स्थायी निवासी बन गये और वहीं सभ्यता का विकास होने लगा।

राजनैतिक व्यवस्था—नगर राज्यों (City-States) की स्थापना इस सभ्यता की विश्व को प्रमुख देन है। यहाँ की शासन-व्यवस्था जनतन्त्रीय थी और नागरिकों को अधिक से अधिक अधिकार प्राप्त थे। शासक अपना कार्य दो समितियों की सहायता द्वारा करता था। एक समिति जाति के विवाद और संघर्ष का निर्णय करती थी और दूसरी समिति युद्ध के विषय में परामर्श करती थी। विशेष नियमों का निर्माण न होने तक परम्परायें ही विधि के समान समझी जाती थीं। अध्ययन आरम्भ होने तक जो नियम बनाये वे कुशाग्र बुद्धि वालों को कंठाग्र कराये जाते थे और आवश्यकता होने पर सुनाये जाते थे। कालान्तर में यूनान कई वास्तविक स्वतन्त्र राज्यों में संगठित हो गया और ये राज्य अलग अलग शासन चलाने लगे। किन्तु थोड़े समय बाद पुनः संघ बनना आरम्भ हुआ और स्पार्टा और एथेन्स के संघ बहुत अधिक प्रभावशाली हो गये।

एथेन्स में एक लोकप्रिय संस्था थी जिसमें प्रत्येक वयस्क पुरुष को सदस्यता प्रदान की गई थी। एक वर्ष में इसके चालीस अधिवेशन बुलाये जाते थे और इस संस्था के प्रस्ताव ही राज्य के नियम बनते थे। कार्यकारिणी के रूप में एक "दस अधिकारियों" का मन्त्रीमण्डल होता था जो केवल एक वर्ष के लिये बनता था। इस प्रकार लगभग प्रत्येक नगर राज्य में ऐसी सभा होती थी। योग्यता के अनुसार सरकारी नियुक्तियां होती थीं और शिक्षा पर ध्यान दिया जाता था। स्पार्टा

इसके विपरीत कुलीन राजतन्त्र और सैनिक शक्ति का गढ़ बन गया था। वहां अनुशासन कठोर था। शिक्षा का महत्व था और वह जीवनोपयोगी व्यवहारिक शिक्षा का। लड़कियों की शिक्षा पर भी ध्यान दिया जाता था। परन्तु फिर भी कला, साहित्य आदि में स्पार्टा अधिक उन्नति नहीं कर सका। दीर्घकाल तक स्पार्टा और एथेन्स का संघर्ष भी घातक सिद्ध हुआ और सभ्यता की प्रगति में एक कठिनाई बना रहा।

सामाजिक व्यवस्था—यूनान की सामाजिक व्यवस्था में दास प्रथा का बड़ा भारी कलंक माना जाता है। उस समय वहाँ उच्च कुलीन, मध्यम वर्गीय और दास तीन श्रेणियों के लोग रहते थे किन्तु अधिक संख्या तीसरी श्रेणी के लोगों की थी। समाज में महिलाओं को समान अधिकार नहीं थे वे परदा करती थीं। वे लोग भूमि से कुआं खोदकर जल निकालना नहीं जानते थे। दासों के साथ बड़ा अत्याचार करते थे इसीलिये लगभग दो चार वर्ष में दासों की मृत्यु हो जाती थी। समाज का सारा कार्य दास ही करते थे। इसका प्रभाव यह हुआ कि प्रथम दो वर्ग दासों पर निर्भर रहते रहते उन्हीं पर आश्रित हो गये। यहाँ का साधारण व्यवसाय कृषि करना ही था फिर भी उन्होंने उपनिवेश बसाकर व्यापार भी विकसित किया था। शराब, तेल (जैतून), धातु तथा मिट्टी की चीजें आदि निर्यात करते थे। इस प्रकार समाज व्यवस्थित तथा धन धान्य से सम्पन्न था। परिवार का समुचित महत्व माना गया था। यहाँ बहु पत्नि विवाह की प्रथा नहीं सी थी।

धार्मिक आदर्श—यहाँ भी प्रकृति पूजा प्रचलित थी। अपने देवताओं में यह लोग अगाध श्रद्धा रखते थे और उन्हें प्रसन्न करने में रत रहते थे। नास्तिक दण्ड का भागी समझा जाता था उन्होंने अपने देवताओं के स्वरूप की कल्पना मानव के अनुरूप ही की थी। भविष्यवाणियों में वे विश्वास करते थे जो (Oracle) ऑरिकल स्थान पर होती थी। पुनर्जन्म के सिद्धान्त में भी इनका विश्वास था। वे मानते थे कि यहाँ इस जन्म के कर्मों के अनुसार परलोक बनता या बिगड़ता है। जीयस, कपोलो आदि उनके मुख्य देवता थे।

साहित्य, कला और विज्ञान—साहित्य और भाषा का विकास इस सभ्यता की विशेषता है। यहाँ अद्‌भुत इतिहासकार, दार्शनिक, वैज्ञानिक और व्याख्याता उत्पन्न हुए हैं जिनका आज भी समस्त विश्व ऋणी है। कवि होमर प्रथम महाकाव्य का रचयिता था। 'इलियड' और 'ओडेसी' (Illiad and Odyssey) उसके सुविख्यात काव्य हैं। सोफ़ोक्लीज और एरिस्टोफेन्स बहुत उच्चकोटि के नाटककार हुए हैं। हिमाच्छादित ओलिम्प पर्वत के मनोरम दृश्यों से ही इनकी काव्य सरिता और भाव लहरी प्रेरित हुई है। नागरिकों को लाभान्वित करने के लिए रंगमंच की व्यवस्था भी थी। हिरोडोटस का नाम इतिहासकारों में मुख्य है। प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात यूनान का ही सपूत था। अरस्तु और अफलातून उसी के शिष्य थे। इन्होंने शिक्षा, राजनीति, दर्शन, साहित्य, काव्य, समाजशास्त्र आदि विभिन्न विषयों पर अपने मौलिक विचार व्यक्त किए हैं जो आज भी अध्ययन किये

जाते हैं। श्रौषधि शास्त्र श्रौर चिकित्सा विज्ञान का विकास भी यहाँ हुआ था। यूक्लिड नामक प्रसिद्ध गणितज्ञ भी इसी भूमि में पैदा हुआ था। डेमोस्थनीज तत्कालीन विख्यात वक्ता था जो सम्भाषण कला में पारंगत था। पाइथोगोरस, हेराक्लिटीज आदि प्रसिद्ध दार्शनिक थे। व्यायाम श्रौर आमोद-प्रमोद को यूनान में उचित स्थान दिया गया था। "स्वस्थ शरीर स्वस्थ मस्तिष्क" के सिद्धान्त में उनका पूरा विश्वास था। इसीलिए ओलम्पिया नगर में प्रतियोगितायें होती थीं। यहाँ के विद्वानों ने जीवन के चार तत्व अग्नि, जल, वायु श्रौर पृथ्वी निर्धारित किए थे श्रौर यह भी खोज की थी कि पृथ्वी सूर्य के चक्कर लगाती है।

यूनानी लोग कला प्रेमी भी थे। स्थापत्य कला, शिल्प तथा चित्रकला में उन्होंने पर्याप्त उन्नति की थी। पेरीक्लीज के युग में वास्तुकला चरम सीमा पर थी। वहाँ के देवालय, परिषद् भवन, व्यायामशालायें श्रौर दौड़-स्थल इस कला के सुन्दर उदाहरण हैं। चित्रकला के क्षेत्र में भी यूनान बहुत आगे था। फोंडियस तत्कालीन प्रसिद्ध चित्रकार था।

महत्व—यूनानी लोग देश श्रौर जाति को अधिक महत्व देते थे। उपरोक्त अनेक विशेषतायें यूनानी सभ्यता के प्राण हैं; किन्तु सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि पाश्चात्य जगत के आधुनिक विकास की समस्त पृष्ठभूमि इसी यूनान की सभ्यता पर आधारित है, इसलिये इसका महत्व श्रौर भी अधिक हो जाता है।

रोम की सभ्यता

यद्यपि रोम की सभ्यता अधिक प्राचीन नहीं है किन्तु फिर भी पाश्चात्य देशों पर इस सभ्यता का बहुत प्रभाव है। सन् ७५३ वर्ष ई० पू० रोमलुस (Romulus) द्वारा रोम बसाया गया था। इसकी प्राकृतिक दशा एवं भौगोलिक स्थिति के कारण धीरे धीरे यह केन्द्र बन गया। यहाँ की सभ्यता के प्रमुख पक्षों का अब हम संक्षेप में अध्ययन करेंगे।

राजनैतिक व्यवस्था—लगभग ५१० वर्ष ई० पू० रोम में प्रजातन्त्र की स्थापना हुई थी। इससे पूर्व लगभग २०० वर्षों तक यहाँ राजतन्त्र रहा था श्रौर सात शासकों ने व्यवस्था की थी। प्रजातन्त्र के समय सत्ता सिनेट के हाथ में थी जो उच्चकुलीन लोगों द्वारा बनती थी। सीनेट के नीचे असेम्बली थी। प्रत्येक नागरिक इसका सदस्य होता था। यह सीनेट के कार्यों पर स्वीकृति देती थी। प्रमुख शासकों जैसे न्यायाधीश, सेनापति, आदि की नियुक्ति असेम्बली ही करती थी परन्तु केवल उच्च कुलीन लोगों में से ही नियुक्त किए जाते थे। अतः सत्ता धनिक वर्ग के हाथ में ही रहती थी। यहाँ के कानून पीतल के बने हुए बारह पत्रों पर लिखवाये थे। यहाँ के सर्वसाधारण ने धीरे धीरे सत्ता प्राप्ति के लिए संघर्ष किया जिसमें हड़ताल श्रौर असहयोग मुख्य अंग थे। फलस्वरूप कई अधिकार प्राप्त हो गये थे। संकट की स्थिति में एक अवधि के लिये तानाशाह नियुक्त करने की परम्परा भी थी। बाद

में अनेक युद्धों के कारण रोम की स्थिति दुर्बल हो गई थी। परन्तु फिर भी यह सत्य है कि पाश्चात्य जगत को प्रजातन्त्र के सिद्धान्त रोम की ही देन हैं। मताधिकार, निर्वाचन, बहुमत के निर्णय आदि प्रणालियां सर्व प्रथम यूरोप में तो रोम में ही प्रचलित हुईं। जस्टीनियन की 'विधि संहिता' यहीं उत्पन्न हुई थी। स्थानीय स्वराज्य का विकास भी यहाँ हुआ था जहाँ स्वास्थ्य, भीतरी व्यवस्था, जल व्यवस्था, शिक्षा आदि का कार्य स्थानीय संस्थायें ही करती थीं। इन संस्थाओं के सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होते थे तथा निर्वेतन कार्य करते थे। गांवों में भी ऐसी ही व्यवस्था थी। आर्थिक क्षेत्र में ये नगर अधिकांश स्वावलम्बी होते थे।

सामाजिक व्यवस्था—प्रजातन्त्र होते हुए भी समाज में धीरे धीरे वर्ग उत्पन्न हो ही गए थे। उच्च वर्ग (पेट्रीशियन्स) और सामान्य वर्ग (प्लीबियन्स) के साथ दास वर्ग भी अपना अलग स्थान रखता था। दास कृषि करते थे और भूमि के स्वामी उच्च वर्ग के लोग होते थे। समाज में अधिकांश संयुक्त परिवार प्रणाली थी। धनी वर्ग अधिक प्रसन्न था। ये लोग विलासी होते थे जिससे भ्रष्टाचार भी फैलता था। मनोविनोद के साधन भी होते थे। रंगमंच बनाए गये थे परन्तु ये उन्हें रुचिकर नहीं हुये। शक्ति से सम्बन्धित खेल इन्हें पसन्द थे। मानव और हिंसक पशुओं के मल्लयुद्ध होते थे और दास इनमें भाग लेते थे। दासों की शिक्षा का भी प्रवन्ध होता था। निर्बल शिशुओं का पालन नहीं किया जाता था। समाज में बहु विवाह प्रचलित था। धनी लोग पांच या सात विवाह करते थे। विवाह विच्छेद भी यदा कदा होता था। रंग विरंगे वस्त्रों का प्रचार था और सोलह वर्ष की अवस्था प्राप्त करने पर बालकों को श्वेत वस्त्र धारण करने पड़ते थे जिसे पुरुषत्व का प्रतीक मानते थे। समाज में वैश्या वृत्ति भी प्रचलित थी। कृषि यहाँ का मुख्य व्यवसाय था किन्तु साम्राज्य के विस्तार के कारण व्यापार अधिक बढ़ा और नागरिक चतुर व्यापारिक बन गये। कारीगर का व्यवसाय भी ठीक चलता रहा। पशुपालन का प्रचार बराबर चलता रहा था। दासों की संख्या अधिक थी। उन्हें स्वामी प्रसन्न होकर मुक्त भी कर देता था। साधारणतया दासों के साथ क्रूरता का व्यवहार होता था। श्रमिकों की दशा ठीक थी उन्हें अवकाश भी दिया जाता था।

धार्मिक आदर्श—रोम के नागरिक प्रतिमा-उपासक थे। देवताओं में उनका विश्वास था उन्होंने देवालय बनाये थे और प्रसन्न करने के लिये बलि भी चढ़ाते थे। मानव बलि भी कभी कभी चढ़ाई जाती थी। राजा की पूजा करना भी वे धर्म समझते थे। धार्मिक कार्यों की व्यवस्था पुरोहितों की समिति द्वारा होती थी। प्रत्येक घर का देवता अलग होता था। फिर भी अध्यात्म भावना का अभाव था। कालान्तर में जुड़ावाद और इसाई धर्म का प्रवेश हो गया और कान्सटेंन्टाइन के समय में ईसाई धर्म को राजधर्म के रूप में स्वीकार कर लिया गया था। यहाँ धर्म राष्ट्र के साथ सम्बन्धित रहा है। प्रत्येक राज्य कार्य धर्म के अनुसार होता था। शुभ समय पर ये कार्य आरम्भ होते थे। कुछ दिन इस दृष्टि से अशुभ माने जाते थे। विजयी

सैनिकों का शुभ मुहुर्त में स्वागत होता था। इस प्रकार रोम के धार्मिक आदर्श माने गये थे।

साहित्य कला और विज्ञान--रोम का साहित्य उच्चकोटि का था। सम्राट आगस्टस के समय में इसकी अच्छी प्रगति हुई थी। व्याकरण, नैतिक शिक्षा और गणित पर अधिक बल दिया जाता था। यहाँ वर्जिल प्रसिद्ध कवि, सिसरो गद्य लेखक, होरेस गीतकार तथा लीवी आदि अच्छे इतिहासकार हुए हैं। यहाँ के साहित्य पर यूनान का स्पष्ट प्रभाव है। विज्ञान के क्षेत्र में भी अच्छी प्रगति हुई थी। ज्योतिष, भूगर्भ विज्ञान तथा खगोल विद्या का विश्लेषण किया गया था। अच्छे चिकित्सक और मानचित्र निर्माता भी यहीं पैदा हुए थे। वास्तुकला के क्षेत्र में तोरण, मेहराब और गुम्बद यहाँ की विशेषतायें हैं। देवालय, पुल तथा द्वारों के निर्माण में इस कला का अच्छा प्रदर्शन हुआ है मूर्ति कला पर भी यूनान की छाप है और प्रकृति चित्रण में रोम निवासी बहुत चतुर थे। संगीत के क्षेत्र में रोम निवासी गतिशील थे किन्तु मौलिक नहीं।

महत्व—अपेक्षाकृत नवीन सभ्यता होते हुए भी यह विश्व को एक अपूर्व देन समझी जाती है। प्रजातन्त्र के सिद्धान्त, साहित्यिक प्रगति तथा सामाजिक क्रान्ति के नए उपादान इस संस्कृति की अमूल्य भेंट हैं। इसलिए रोम की सभ्यता का महत्व बराबर बना रहेगा।

अरब की सभ्यता

अरब देश अधिकांश मरुस्थल है किन्तु इसके समुद्र तटीय प्रदेश उपजाऊ हैं। इसीलिए कृषि यहाँ के कुछ लोगों का व्यवसाय है और शेष लोग व्यापार करते हैं। समुद्र के किनारे होने के कारण विदेशों से सम्पर्क सरलतापूर्वक हो गया था। इसीलिए इनका दृष्टिकोण भी कुछ उदार हो गया था। फिर भी अरब की सभ्यता का विकास इस्लाम की उत्पत्ति के बाद हुआ है। सन् ५७० में मुहम्मद साहब का जन्म हुआ था। इन्हें ईश्वर के पैगाम पाने का अनुभव होता था इसलिए ये पैगम्बर कहलाए। जब इन्होंने अपने विचार व्यक्त किए तो कुछ समय बाद विरोध बढ़ने लगा और अन्त में सन् ६२२ में ये मक्का छोड़कर मदीना चले गए। उस समय से मुसलमानों का हिजरी सन् आरम्भ होता है। मदीना में मुहम्मद साहब ने व्यवस्था जमा ली, कानून प्रचारित किए और सेना भी संगठित की। बाद में सन् ६३० में उन्होंने मक्का को भी जीत लिया था। तब इस्लाम सब जगह स्वीकार किया जाने लगा और उसका प्रचार बढ़ता गया। इस प्रचार के साथ ही अरब लोग अन्य सभ्यताओं, जैसे भारतीय, यूनानी, रोमन आदि के सम्पर्क में आए और इनसे बहुत कुछ सीखा। कई यूनानी और भारतीय ग्रन्थों का अरबी में उल्था भी कराया गया। इस प्रकार अनेक सभ्यताओं से प्रभावित होकर अरब सभ्यता का विकास हुआ।

राजनैतिक व्यवस्था—वैसे तो मुसलमानों का समाज सर्वोच्च आदर्श

समानता के आधार पर संगठित हुआ है किन्तु फिर भी राजनैतिक क्षेत्र में परिवर्तन होते रहने के कारण प्रजातन्त्र से आरम्भ होकर राजतन्त्र प्रणाली का विकास हुआ और अन्त में खलीफा वंशानुगत के सिद्धान्तानुसार शासन करने लगे थे। खलीफा धर्म एवं राजनीति का सर्वेसर्वा होता था। केवल कुरान की आज्ञाएँ उसके लिये मान्य होती थीं। उस समय स्थानीय, प्रान्तीय, और सर्वदेशीय प्रशासन का विकास हुआ। प्रशासन की विभिन्न शाखाओं न्याय, पुलिस, यातायात आदि का संगठन हुआ और डाक चौकी का संगठन भी किया गया जो बहुत सफल रहा। सड़क, भवन, बांध आदि बनवाये गये। कृषि पर विशेष ध्यान दिया गया और सिंचाई के साधन उपलब्ध किये गये। व्यापार की सुविधा के लिये नये नगर बसाए। इस प्रकार राजनैतिक दृष्टि से विकास हुआ था।

सामाजिक व्यवस्था—जैसा ऊपर कहा गया है मुस्लिम जगत की सामाजिक समानता प्रारम्भ से ही अन्य सभ्यताओं के लिए आदर्श रही है। फिर भी सम्पन्न और धनी लोग कुछ विशेष अधिकारों से युक्त थे, जैसे घोड़े की सवारी आदि। महिलाओं के लिए परदा प्रथा थी तथा रंगीन वस्त्र धारण करती थी। बहु विवाह चार तक सीमित था और विवाह विच्छेद प्रथा प्रचलित थी। मनोरंजन को महत्व दिया गया था और संगीत, शायरी, कुश्ती, शिकार आदि प्रमुख स्रोत समझे गए थे। आर्थिक जीवन को समुन्नत बनाने के लिए दूसरे स्थानों पर हवाचक्कियाँ लाई गई थीं। जल-घड़ी का प्रयोग भी आरम्भ हुआ था। बर्तन और आभूषणों का बहुत प्रयोग होता था। यहाँ का सूती और ऊनी वस्त्र विख्यात था। अनेक नगर फौलाद के काम, कांच, चीनी के बर्तन, शस्त्र, तेल, इत्र आदि की उत्पत्ति के केन्द्र बन गए थे। चमड़े का काम भी यहाँ बहुत अच्छा होता था। यहाँ का शराब, शर्बत व रस प्रसिद्ध थे। इस प्रकार सामाजिक और आर्थिक जीवन शांत और समृद्धिशाली था।

धार्मिक दर्शन—प्रारंभ में समस्त दर्शन 'कुरान' तक सीमित था किन्तु बाद में कट्टरता के कारण कठिनाइयाँ उपस्थित हो गई। अल्लाह के सिवा और कोई पूज्य नहीं है और मुहम्मद साहब उसके पैगम्बर हैं—यह मूल मन्त्र था और प्रत्येक मुसलमान के लिये पांच कार्य—कलमा, नमाज, रोजा, ज़कात और हज—आवश्यक थे। कालान्तर में शिया और सुन्ना के दो वर्गों का विकास हुआ और सूफी सम्प्रदाय भी चल पड़ा। यह रहस्यवादी दर्शन है। इस्लाम पर ईसाई तथा अन्य धर्मों का प्रभाव हुआ है।

साहित्य, कला और विज्ञान—इस सभ्यता के क्षेत्र में अनेक स्कूल और कालेज स्थापित किये गए थे और इनके विश्वविद्यालय अन्य विश्वविद्यालयों से अधिक उन्नत थे। बगदाद, काहिरा आदि शिक्षा के केन्द्र थे। इन विश्वविद्यालयों में प्रत्येक में १० हजार से १२ हजार तक विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। विदेशों के विद्यार्थी भी यहाँ शिक्षा लेने आते थे। अरब सभ्यता में काव्य और कहानी साहित्य की प्रचुरता है। हसन इब्नहानी यहाँ का प्रसिद्ध कवि था और सुरा, सुन्दरी और

संगीत से उसे स्नेह था। फिरदौसी का 'शाहनामा' उच्चकोटि की रचना है। उमरखय्याम की रुबाइयाँ और सादी की रचनाएँ सुन्दर हैं। वास्तुकला में यहाँ बहुत उन्नति हुई थी और अनेक शैलियाँ विकसित हुईं। यहाँ के कलाकार पत्थर की जाली काटकर अन्य अनेक प्रकार की कारीगरी की वस्तुएँ बनाते थे। विज्ञान के क्षेत्र में उन्होंने अच्छी उन्नति की थी। अंक इन्होंने भारत से सीखे थे। गणित, ज्योतिष और चिकित्सा शास्त्र में उनका ज्ञान प्रशंसनीय था। शरीर के ज्ञान के साथ कुछ ऑपरेशन्स भी किए जाते थे। कागज का आविष्कार चीन में हुआ था परन्तु उसमें सुधार अरब लोगों ने किया और यहीं से यूरोप में कागज पहुँचा था। सिंचाई के साथ कृषि सुधार के लिए खादों का महत्व ये जानते थे। भूमि और बीज का मेल रखना तथा कलमों द्वारा विभिन्न पेड़ पौधों का समन्वय और विकास करना और फल पुष्प लगाना इन्हें खूब आता था।

महत्व—यद्यपि अरब सभ्यता में मौलिकता का अभाव है किन्तु फिर भी विभिन्न सभ्यताओं का समन्वय करते हुए इन्होंने स्वतन्त्र सभ्यता का विकास किया है तथा परोक्ष रूप से यूरोप की जाग्रति में बहुत महत्वपूर्ण हाथ बटाया है। इसलिए अरब सभ्यता का महत्व, पूर्व और पश्चिम के आदान प्रदान के माध्यम की दृष्टि से और भी बढ़ जाता है।

मध्यकालीन यूरोप की सभ्यता

सन् ५०० ई० से लेकर लगभग सन् १५०० ई० तक का युग यूरोप में मध्य युग कहलाता है। इस एक हजार वर्ष के समय में पहले ५०० वर्ष अराजकतामय थे और शेष ५०० वर्ष सामन्तवाद की प्रधानता के। इन्हीं दिनों यूरोप को एक नई शक्ति, इस्लाम का भी सामना करना पड़ा। कालान्तर में ईसाई और मुसलमानों के बीच यरुशलम के अधिकार के लिए युद्ध हुए जो 'धर्म युद्ध' कहलाते हैं। बाद में पोप की शक्ति, मध्यम वर्ग के विकास तथा नए आविष्कारों के कारण सामन्तवाद भी समाप्त हो गया। इस समय विद्या का पुनरुद्धार हुआ और यूरोप का नवीन इतिहास प्रारंभ हुआ। फिर भी पूर्ण परिवर्तन फ्रांस की क्रान्ति के कारण हुआ। यहाँ हम केवल मध्यकालीन यूरोप की सभ्यता की प्रमुख विशेषताओं का अध्ययन करेंगे।

राजनैतिक व्यवस्था—इस समय सामन्तवाद का जोर था इसलिए राज्य ने केन्द्रीय शक्ति बढ़ाकर सामन्तों को निर्बल बनाने का कार्य किया। यद्यपि सामन्तवाद की समाप्ति तो फ्रांस की क्रान्ति से हुई थी; परन्तु इसका पतन मध्ययुग में ही आरम्भ हो गया था। सब राज्यों में समान शासन, न्याय और कर व्यवस्था स्थापित की गई थी। इंगलैंड और स्विटजरलैंड में इसी समय प्रजातन्त्रवाद की नींव डाली गई थी। निरंकुश शासक दैवी सिद्धान्त का सहारा लेते थे। इस प्रकार राजनैतिक क्षेत्र में इस युग में राजतन्त्रात्मक, सामन्तिक और अन्त में जनतन्त्रात्मक प्रणालियाँ स्थापित हुईं जो आज तक चली आ रही हैं।

सामाजिक व्यवस्था—इस समय का समाज अनेक वर्गों में विभाजित था। उच्चवर्गीय लोग अधिक सम्मान पाते थे। वैसे कृषक और श्रमिक, सामन्त तथा पादरी तीन वर्ग थे किन्तु चौथा वर्ग बुर्जुआ (Bourgeoisie) और विकसित हो गया था जिनकी संख्या व्यापारिक केन्द्र के नगरों में अधिक थी। समाज में मध्यमवर्ग का महत्व बढ़ रहा था। ये राजा के समर्थक और सामन्तों के विरोधी थे। बाद में शासन में भी हिस्सा माँगने लगे। पादरी बढ़ रहे थे और सामन्त निर्बल होते जा रहे थे। समाज में आर्थिक क्रान्ति का आरम्भ भी उसी युग में हुआ। व्यापार और उद्योग की उन्नति ने यूरोप के ज्ञान और धन की वृद्धि की ओर सभ्यता के प्रसार को सरल बनाया। नये नगरों की स्थापना हुई। बैंक, मुद्रा, बीमा, ऋण आदि का प्रचलन हुआ। श्रमिकों और व्यापारियों के संघ बने। कृषि फिर भी जीविका की मुख्य आधारशिला थी। यातायात के साधन कम थे और मार्ग में लुटेरों का भय था।

धार्मिक आदर्श—इस युग में जनता का विश्वास था कि विश्व का सृजनहार केवल एक ईश्वर ही है और पृथ्वी पर पोप ही उसका प्रतिनिधि है। परन्तु यह अन्ध विश्वास अधिक समय तक न चल सका। पोप का सम्मान कम होने लगा और जनता स्वतन्त्र धार्मिक विचार करने लगी। इस युग का दर्शन 'पाण्डित्यवाद' का था जिसका आधार अरस्तू और सेंट आगस्टाइन थे। अरबी और हिन्दू दर्शन भी यूरोप में प्रचलित हुआ और इस समय यूरोप में अनेक दार्शनिक उत्पन्न हुए।

साहित्य, कला और विज्ञान—इस युग में शिक्षा का क्षेत्र विस्तृत हो गया था। छात्र और पाठशालायें दोनों की संख्या बढ़ रही थी। आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय इसी समय स्थापित हुए थे। पेरिस विश्वविद्यालय धर्मशास्त्र के लिए ही खोला गया उसमें कला, कानून, धर्म और चिकित्सा की चार फेकल्टी भी थीं। १५वीं शताब्दी में यूरोप में लगभग ७० विश्वविद्यालय थे। शिक्षा के उद्देश्य परिवर्तित हो गये थे। कक्षाओं में छात्रों की उपस्थिति नहीं होती थी। व्याकरण, तर्क, गणित, संगीत आदि अनिवार्य विषय थे तथा परीक्षाएँ होती थीं। इस युग में प्रणय और वीरता से सम्बन्धित साहित्य का सृजन हुआ और लोक कथा साहित्य की वृद्धि हुई। इतिहास भी लिखे गए। शिक्षा कार्य साधारणतः चर्च में होता था और नैतिक शिक्षा पर अधिक बल दिया जाता था। छः वर्ष के अध्ययन के पश्चात् मास्टर की उपाधि मिलती थी। समय-समय पर विषय पर शास्त्रार्थ होते थे। छपी पुस्तकों के अभाव में प्रोफेसर के व्याख्यान अधिक महत्व के होते थे।

कला का क्षेत्र भी प्रभावित हुआ। नगरों की स्थापना से स्थापत्य कला विकसित हुई। भव्य प्रासाद व रम्य गिर्जाघरों का निर्माण हुआ। रोमेनस्क और गोथक दोनों श्रेणी की कला आगे बढ़ी। गिर्जाघरों की मेहराब तथा ऊंची मीनारें इसी युग की प्रतीक हैं। चित्रकला और संगीत कला में भी प्रगति हुई। मूर्तिकला भी निखरी और देवताओं के साथ मानव के दैनिक जीवन का चित्रण भी मूर्तियों

में होने लगा। रंगीन कांच की सजावट इस युग से आरम्भ हुई थी।

अरब लोगों के सम्पर्क से विज्ञान में अनुसन्धान आरम्भ हुई। पहले यूनानी वैज्ञानिक पुस्तकों का अनुवाद किया गया। फिर भारत की दशमलव एवं संख्या (हिन्दसे) पद्धति अपनाई गई। बीजगणित, खगोल, भौतिक विज्ञान में प्रगति हुई। तेरहवीं शताब्दी में नेमोरेरियस ने भार और गिरने वाले पदार्थों पर ग्रन्थ लिखा। चश्मे का आविष्कार इस युग की देन है। चिकित्सा की पद्धति लोकप्रिय बनी और जादू टोनों का प्रभाव हटने लगा। बेकन इस समय का सबसे अधिक प्रसिद्ध वैज्ञानिक था उसने प्रयोग का स्थान विज्ञान में सर्वोच्च ठहराया। इस युग में मशीन की घड़ी बनना आरम्भ हुआ। फारस से पवनचक्की सीखने के बाद वस्त्र बुनने की मशीन का आविष्कार हुआ। बारूद और बन्दूक के आविष्कार ने सामन्तों की शक्ति का महत्व कम कर दिया। इसी प्रकार मध्य युग में व्यापार की वृद्धि में कुतुबनुमा द्वारा जहाजों का उपयोग हुआ।

महत्व—वास्तव में इसे 'अन्धकार युग' कहा गया है वह उचित नहीं है। इसी युग से आधुनिक युग का समारंभ हुआ। पूर्व और पश्चिम का सम्पर्क स्थापित कर इसी युग ने मानव समाज का विस्तार किया। सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आदर्श बदल गए। शिक्षा में उदारता आई। इस प्रकार मध्य युग यूरोप के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण और महान् परिवर्तनकारी सिद्ध हुआ।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. मध्य युग की सभ्यता की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

२. रोम की सभ्यता, अरब सभ्यता, यूनान की सभ्यता तथा चीन की सभ्यता पर छोटे-छोटे निबन्ध लिखिए और किसी एक पर विवेचनात्मक टिप्पणी लिखिए।

३. नदी कालीन सभ्यताओं में आप किस सभ्यता से अधिक प्रभावित हुए और क्यों? सविस्तार लिखिए।

४. मिस्र सभ्यता और सिन्धु घाटी की सभ्यता की तुलना कीजिए।

—:०:—

तृतीय अध्याय

पूर्व औद्योगिक आर्थिक संगठन का रूप

प्रस्तावना—वर्त्तमान यन्त्र युग का आर्थिक संगठन हमारे सामने है और इसके गुण और दोषों का सीधा प्रभाव प्रत्येक नागरिक स्वयं अनुभव करता है। परन्तु यह व्यवस्था वास्तव में औद्योगिक क्रान्ति की देन है जो अठारहवीं शताब्दी में हुई। इससे पूर्व समाज का आर्थिक गठन किस प्रकार था, उसमें क्या अच्छाई और बुराई थी, यह ऐसा विषय है जिसे प्रत्येक विचारशील व्यक्ति समझना और जानना चाहता है। इसलिए हम पूर्व औद्योगिक आर्थिक सगठन के रूप का संभवतः पूरा अध्ययन करने की चेष्टा करेंगे।

प्रारम्भिक जीवन—सर्वप्रथम मनुष्य प्रकृति का दास था, जो कुछ उसे प्राप्त होता था उसी से जीवन निर्वाह करता था। यह तो सच है कि मानव की मौलिक आवश्यकताएँ, भोजन, वस्त्र और निवास प्रारम्भ से ही प्रधान रही हैं। इनकी पूर्ति मानव उपलब्ध उपकरणों से ही करता था। भोजन के लिए कन्द, मूल, फल आदि का आश्रय लेता था। वस्त्र के लिए वल्कल तथा मृत पशुओं की खाल का उपयोग करता था और निवास के लिए कभी पेड़ के कोटर तो कभी गुफाओं में शरण लेता था। क्रमशः धीरे-धीरे जब मानव को बुद्धि का सहारा मिला तो वह सोचने विचारने लगा और साधनों की उत्पत्ति और खोज करने लगा। भोजन के लिए शिकार करने लगा, चमड़े का उपयोग अधिक मात्रा में सम्भव हुआ और साथ ही शिकार की कठिनाई से उसे समूह के लाभ भी समझ में आने लगे। इस प्रकार प्रारम्भिक जीवन सहयोग से विकसित हुआ और मानव-समाज स्थापित हुआ। सब लोगों के श्रम से प्राप्त वस्तुओं पर अधिकार भी समान ही होता था इसलिए इस अवस्था को कुछ लोग 'आदिम साम्यवाद' की संज्ञा देते हैं। परन्तु यह अवस्था दीर्घ-काल तक न चल सकी। मानव स्वार्थी है। अतः प्राप्त चीजों के संग्रह की भावना उत्पन्न हुई और इसी समय से सम्पत्ति और संघर्ष भी आरम्भ हो गए। वस्तुओं का आदान-प्रदान आरम्भ हुआ। इसी समय पशुपालन की प्रथा प्रचलित हुई। सम्भव है प्रारम्भ में पशुपालन एक मनोरंजन का साधन रहा हो परन्तु शीघ्र ही यह एक आर्थिक साधन के रूप में परिवर्तित हो गया। पशु समाज का धन बन गया। उसका माँस एवं चमड़ा उपयोगी था। बाद में पशु वर्ग आवागमन के साधन के रूप में भी काम में लिया जाने लगा। दूध, घी आदि का प्रयोग बहुत समय पश्चात् आरम्भ हुआ। भारतवर्ष में असम आदि प्रांतों में आज भी पशु केवल माँस के लिए पाले जाते हैं। उनके दूध का उपयोग नहीं किया जाता। तत्पश्चात् पशुओं का सर्वाधिक उपयोग कृषि के लिए किया जाने लगा।

कृषि-जीवन—कृषि के आविष्कार ने मानव-जीवन में परिवर्त्तन कर दिया।

अब तक मनुष्य चरागाहों पर निर्भर रहता था और आवश्यकतानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाया करता था। कृषि ने जीवन में स्थिरता प्रदान की। भूमि अब उसकी स्थायी सम्पत्ति बन गई और इसका भी सुविधानुसार आदान प्रदान, क्रय विक्रय आरम्भ हुआ। अब भोजन की दृष्टि से तथा पशुओं के चरागाहों की ओर से वह निश्चित होने लगा और संग्रह की आदत पड़ने लगी। क्योंकि अनावृष्टि या अतिवृष्टि के कारण फसल हाथ न लगने पर उसके सामने संकट उपस्थित होने की संभावना तो फिर भी रहती थी। मानव-समूह मिल-जुलकर सहयोग से स्थायी निवास करने लगे और गाँव बस गए। इस समय कला-कौशल का विकास हुआ। मिट्टी का उपयोग बढ़ा, इससे बर्तन और ईंटें बनाई जाने लगीं। वस्त्र बनना आरंभ हुआ। लकड़ी का उपयोग भी बढ़ा। कृषि के लिए नुकीली लकड़ी जिसे 'हो' (Hoe) कहा जाता है या हल कह सकते हैं, भूमि को उपयोगी बनाने के लिए काम में लाई जाने लगी। इसी के साथ खाती और लुहार के व्यवसाय विकसित हुए। तत्कालीन ग्राम्य जीवन इस दृष्टि से स्वाश्रित होते थे। प्रत्येक ग्राम में खाती, लोहार, चमार, कुम्हार, धोबी, नाई, तेली, हरिजन (भंगी), महाजन, ब्राह्मण और राजपूत आदि प्रत्येक व्यवसाय के व्यक्ति होते और परम्परागत कार्य-कुशलता उनकी विशेषता होती थी। इसी प्रकार दाई, वैद्य, पण्डित आदि भी गाँवों में रहते थे। इनके व्यवसाय बहुत महत्वपूर्ण होते थे परन्तु फिर भी सबका जीवन सादा और सरल होता था तथा एक दूसरे की सहायता के लिए सदैव तत्पर रहते थे। इस समय तक का आर्थिक संगठन ठोस था अर्थात् मूल्य प्रथा (Price system) नहीं थी। प्रत्येक व्यक्ति को अपना कार्य करने के उपलक्ष्य में अन्न मिलता था जो जीवन की आधारभूत आवश्यकता थी। इसलिए कीमतों के घटने-बढ़ने की चिन्ता नहीं थी। साथ ही आज की भाँति शिक्षित बेरोजगारी की समस्या भी नहीं थी। उदाहरणार्थ यदि एक लुहार के चार पुत्र हैं तो उनके लिए गांव चार भागों में बंट जाता था, फिर यदि चारों में से केवल एक ही व्यक्ति के पुत्र हुआ है तो समस्त गाँव फिर एक ही लुहार की सेवा में रहता था। यही प्रथा सारे व्यवसायों में प्रचलित थी। ग्राम छोटा होने की अवस्था में एक से अधिक ग्राम मिलकर भी यह व्यवस्था रखते थे। वस्त्र निर्माण के लिए कोली और जुलाहे भी प्रत्येक ग्राम में होते थे।

थोड़े समय बाद धातुओं का प्रयोग किया जाने लगा। तांबा, जस्ता और इससे मिश्रित पीतल का प्रयोग भी आरम्भ हुआ। इसके उपयोग से मानव अच्छा कृषक और सफल शिकारी बना। धातुओं के फल लकड़ी पर लगाकर उसने हल पैने किए और इसी प्रकार शिकार के लिए बल्लम, बरछी का आविष्कार किया। अच्छे बर्तन बनाकर भोजन पकाना सीखा और धीरे-धीरे सोना, चाँदी आदि धातुओं का ज्ञान होने पर हस्तकला में उन्नति करने लगा। इसलिए समाज में सम्पत्ति का प्राधान्य हुआ और मनुष्य के लिए काम करने के मार्ग खुल गए। हस्तकौशल और शिल्पकला के विकास के कारण सामाजिक जीवन में विनिमय की आवश्यकता बढ़ती गई और व्यापार अपना महत्व बढ़ाने लगा। प्रारम्भ में तो उत्पादक स्वयं ही अपने

माल के बदले में आवश्यक वस्तुएं लाया करता था ; किन्तु इनकी संख्या बढ़ने से तथा जरूरत वाले व्यक्ति आवश्यकता के समय न मिलने की कठिनाई ने आधुनिक व्यापार प्रथा को जन्म दिया। अब उत्पादन की वस्तुओं का एक निश्चित स्थान तथा उसके व्यापार के लिए निश्चित व्यक्ति होने लग गए। दूरस्थ विभिन्न ग्रामों की सुविधा के लिए प्रति सप्ताह हाट लगते थे। इनमें वे वस्तुएं आती थीं जो साधारणतया ग्रामों में उपलब्ध नहीं होती थीं। अच्छी वस्तुएं, चांदी सोने की चीजें, सुन्दर वस्त्र, अच्छी जाति के पशु आदि इन सम्मेलनों में आते थे और खूब क्रय विक्रय होता था। मेलों की प्रथा भी इसी युग में चली और कुछ लोगों ने यही अपना व्यवसाय बना लिया। लाभ के स्थान से अच्छी वस्तुएँ संग्रह कर आवश्यकता के स्थानों पर पहुँच कर उन्हें बेच देना और लाभ से जीवन निर्वाह करना उनका मुख्य उद्देश्य बन गया था। पशुओं का उपयोग आवागमन के साधनों के लिए होता था। प्राचीन समय में बैल लादने वाले बनजारे कहलाते थे और यह उनका प्रमुख व्यवसाय होता था। इन समूहों को बालद भी कहा जाता था। फिर सामन्तवादी युग में व्यापारी वर्ग की प्रधानता बढ़ गई। धीरे-धीरे बहुमूल्य धातुओं का प्रयोग बढ़ने लगा और शासकों के सहयोग से व्यापारी वर्ग ने आवागमन के साधन, मार्ग और सड़कों का निर्माण करवाया। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक यही पद्धति चलती रही। तत्पश्चात् रेलगाड़ी के आविष्कार ने जन जीवन में पुनः क्रांति उत्पन्न कर दी।

इस समय दास प्रथा भी बहुत महत्त्वपूर्ण थी। कृषि के कार्य में वैसे अनेक सदस्यों की उपस्थिति हितकर होती है और सम्भवतः इसी आवश्यकता ने दास-प्रथा को जन्म देकर स्थायी बनाया था। अन्य वस्तुओं की भाँति दास भी क्रय विक्रय और विनिमय की वस्तु समझे जाते थे और स्वामी हर प्रकार से उनके अधिष्ठाता होते थे। प्राणदण्ड, क्रय, विक्रय और उनकी स्वतन्त्रता उनके स्वामी की इच्छा पर निर्भर करती थी। सामन्त प्रथा ने इसे और भी बलवान बना दिया। सामन्तों के लिए यह दास वर्ग कृषि करता था, युद्ध के समय जीवन लगाता था और शांति के समय स्वामी की तन मन से सेवा कर अपने को कृतार्थ समझता था। उनका पारिवारिक जीवन भी स्वामी की इच्छानुसार चलता था। उसका समस्त परिवार स्वामी की सेवा में रत रहता था। स्वामी की सन्तान के शादी व्याह में दास दहेज में दिए और लिये जाते थे। भारतवर्ष में आज भी रजवाड़ों में दहेज में डावडी (दास कन्याएँ) और वांदे (दास पुत्र) देने की प्रथा प्रचलित है। मार्क्स के मतानुसार सामन्तवादी युग में सामन्त और दास के दो वर्ग थे और औद्योगिक युग में अब नवीन वर्ग उत्पन्न हो गए जिन्हें श्रमिक और पूंजीपति कहा जाता है। सर्वोदयी नेता इन दो वर्गों को 'हजूर' और 'मजूर' के नाम से सम्बोधित करते हैं। इस प्रकार औद्योगिक युग के पूर्व समाज का संगठन किसी न्याय पर आधारित नहीं था। केवल आवश्यकता और व्यवस्था के नाम पर कुछ समर्थ व्यक्तियों ने परम्पराएँ चला दीं जो यन्त्र युग के आरम्भ होने तक चलती रही।

व्यापारिक स्वाश्रय—यंत्र युग के आरम्भ से पहले आर्थिक व्यवस्था स्वाश्रयी थी, यह कहा जा सकता है। प्रत्येक इकाई अपनी आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर ही व्यवसाय और उत्पादन के क्षेत्र में आगे बढ़ती थी। व्यापार की दृष्टि से भी भारत विदेशों से व्यापार में संलग्न था। जलमार्ग और स्थलमार्ग दोनों का प्रयोग करता था। ईरान, अरब तथा अन्य अनेक यूरोपीय देशों से हमारा व्यापार चलता था। चीन और पूर्वी द्वीप समूह तक भी व्यापारिक जहाज आते जाते थे। शिवाजी के समय में तो बहुत प्रसिद्ध जहाजी बेड़ा था जिससे यूरोपीय लोग भी भयभीत रहते थे। मुगल सम्राटों ने भी समुद्री बेड़ा रक्खा था जो साधारण व्यापार भी करता था। खैबर के दर्रे में होकर स्थल मार्ग द्वारा व्यापार होता था। पहले पुर्तगाल के साथ व्यापार होता था। फिर वास्कोडिगामा और कोलम्बस के प्रयत्नों से यूरोप में होकर अमेरिका से भी व्यापार आरम्भ हो गया और बाद में तो यूरोप और अमेरिका ही समस्त विश्व पर छा गया। अतः हम कह सकते हैं कि व्यापार की दृष्टि से पूर्व औद्योगिक युग में भारतवर्ष स्वाश्रित था और समानता के आधार पर अपना व्यापार संचालित करता था।

संगठनों की दृष्टि से व्यापारिक वर्ग प्रारम्भ से ही संगठित रहा है। प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे अनेक प्रसंग तथा प्रमाण हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि व्यवसाय के अनुसार वहाँ व्यापारियों की अनेक श्रेणियाँ (Guilds) विद्यमान थीं जो वर्तमान सहकारी समितियों तथा प्रशिक्षण संस्थाओं की भाँति सदस्यों की हर प्रकार सहायता करती थीं। उनके कोष होते थे, वे नवयुवकों को शिक्षण देती थीं। बाद में जब विश्व-वाणिज्य की प्रथा प्रचलित हुई तब यही संगठन बृहद् रूप में प्रकट हुए और बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ स्थापित हुईं। इस समय भारत पिछड़ गया अब वास्तव में यंत्रों का उपयोग होने लगा था। यंत्र द्वारा कृषि में अधिक उत्पादन, वस्त्र की अधिक उत्पत्ति, युद्ध में निश्चित विजय, ज्ञान के लिए छपी हुई सुन्दर पुस्तकें आदि विधि का वरदान मिला, जिसे साथ लेकर आधुनिक युग ने प्रवेश किया।

प्राचीन आर्थिक संगठन की विशेषतायें—यद्यपि उपरोक्त वर्णन में ये सब विशेषताएँ आ चुकी हैं, तथापि पुनः बिन्दुओं के रूप में उन्हें फिर से एक बार दोहराया जा सकता है। सर्वप्रथम इस दृष्टि से प्राचीन आर्थिक संगठन की विशेषता थी कृषि प्रधान समाज व्यवस्था। ये समाज गाँवों में संगठित होते थे और सम्भवतः स्वाश्रयी होते थे। विभिन्न गाँवों और समुदायों के मध्य आवागमन के साधनों का नितान्त अभाव था और मार्ग-सुरक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। राज्य नाम की संस्था का जन्म हो रहा था। आर्थिक क्षेत्र में जातियाँ बन रही थीं और जन्म के साथ ही व्यवसाय का निर्धारण होता था, अतः श्रम विभाजन वैज्ञानिक ढंग पर नहीं होता था। उत्पादन सरल और सामान्य तथा छोटे स्तर पर होता था। मध्यम वर्ग का विकास आरम्भ हो रहा था जो विनिमय में सहायक होता था। उत्पादन के लिए बहुत बड़ी धन राशि की आवश्यकता नहीं होती थी। कृषि के क्षेत्र में दास

प्रथा बलवान थी धीरे-धीरे देश विदेश के व्यापार की प्रथा चलने लगी थी। इस प्रकार अनेक विशेषताओं के साथ पूर्व औद्योगिक अर्थ व्यवस्था ने औद्योगिक क्रांति के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया और तब नवीन औद्योगिक युग का श्रीगणेश हुआ।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. पूर्व औद्योगिक आर्थिक संगठन से आप क्या समझते हैं ? समझाकर लिखिए और इसकी प्रमुख विशेषताओं का विवेचन कीजिए।
२. 'सम्पत्ति की उत्पत्ति' पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
३. "प्राचीन काल में ग्राम स्वाश्रयी थे" इस कथन की युक्तियुक्त पुष्टि अथवा खंडन कीजिएगा।
४. विनिमय का व्यापार में क्या स्थान रहा है—विस्तारपूर्वक लिखिए।
५. प्राचीन आर्थिक व्यवस्था के गुण और दोष लिखियेगा।

—: o :—

चतुर्थ अध्याय

आधुनिक राजनैतिक सिद्धान्त

प्रस्तावना—कुछ विद्वानों का मत है कि आधुनिक राजनैतिक सिद्धान्तों का श्रीगणेश सत्रहवीं शताब्दी से होता है और थोमस हाब्स इस युग का महान् प्रवर्त्तक था। राज्य सत्ता के सिद्धान्त का पूर्ण विवेचन सर्वप्रथम हाब्स ने ही किया था। इस वाद को मान लेने पर भी यह आवश्यक होता है कि प्राचीन काल की राजनैतिक विचारधारा का भी संक्षिप्त अध्ययन किया जाय जिससे वर्त्तमान को समझना अत्यन्त सुलभ हो जाय। इसी दृष्टि से पहले हम संक्षेप में प्राचीन राजनैतिक सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे और उसके पश्चात् आधुनिक राजनैतिक सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे।

प्राचीन राजनैतिक सिद्धान्त—वैसे तो विश्व का प्राचीन इतिहास अत्यन्त व्यापक है और लगभग प्रत्येक राष्ट्र एवं राज्य का अपना अलग इतिहास है। उसी प्रकार वहाँ के राजनैतिक सिद्धान्तों का भी इतिहास है। इनमें भी भारत, मिस्र, असीरिया, चीन आदि अत्यन्त प्राचीन हैं, किन्तु यहाँ हम केवल यूरोप की राजनैतिक विचारधारा से ही अपना प्रमुख सम्बन्ध रक्खेंगे। प्राचीन यूनानी राजनैतिक विचारों का प्रारम्भ ईसा से पूर्व पांचवीं शताब्दी से माना गया है। उस समय वहाँ सर्वप्रथम तार्किक (Sophist) लोग उत्पन्न हुए थे। वे बुद्धिवादी थे और प्रत्येक विचार को तर्क द्वारा समझते थे। इसलिए राज्य और नियम उन्होंने मानवीय सिद्ध कर दिये थे। महात्मा सुकरात इसी विचारधारा के पोषक थे। फिर प्लेटो और अरस्तु का प्रादुर्भाव हुआ। ये दोनों प्राचीन राजनीति के अनन्य स्तम्भ माने जाते हैं। इन्होंने राज्य को नैसर्गिक और अनिवार्य संस्था सिद्ध किया। अरस्तू ने घोषणा की कि 'मनुष्य राजनैतिक प्राणी है'। तत्पश्चात् यूरोप में दो नवीन विचारधारायें विकसित हुई, जिनमें से पहली एपीक्यूरस के द्वारा चलाई हुई आनन्दवाद (Epicurianism) और दूसरी स्टॉइक्स द्वारा चलाई हुई विरक्तिवाद (Stoicism) की विचारधारायें कहलाती हैं। इसके बाद रोम के विद्वानों ने विधिशास्त्र (Jurisprudence) आदि को जन्म दिया। प्रशासन सम्बन्धी अधिकार पृथकता, नियन्त्रण तथा सन्तुलन आदि के सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी इसी समय हुआ।

मध्यकालीन राजनैतिक सिद्धान्त—यह युग प्रधानतः सामन्तवादी युग रहा है, इसलिए सामन्तवादी विचारों का ही महत्त्व भी था। किन्तु ईसाई धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव से राजनीति भी नहीं बच सकी। ईसाई धर्मानुयायी सदैव संगठित होते थे, इसलिए धीरे-धीरे ईसाई-धर्म संघ राजनीति में प्रवेश करने लगे। अन्त में 'पवित्र रोम साम्राज्य' और 'पवित्र रोम सम्राट' भी बन गये। ईसाई धर्म की प्रधानता के कारण इस युग के राजनैतिक विचारों पर उसकी गहरी छाप है। यद्यपि महात्मा

ईसा ने स्पष्ट कहा था "मेरा राज्य लौकिक नहीं अलौकिक है" (My kingdom is not of this world)। अर्थात् राजनीति से अलग रहना उनका उद्देश्य था परन्तु जब राजनीति धर्म से प्रभावित हो गई और धर्म के हाथ सत्ता, सम्पत्ति आदि आ गई, तब धर्म और राजनीति में संघर्ष आरम्भ हुआ। इस समय तीन विचार प्रमुख रहे। प्रथम धर्म और राजनीति पृथक हैं और धर्म को राजनीति में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। दूसरा यह कि धर्म राजनीति से श्रेष्ठ है अतः राज्य धर्म के आधीन रहना चाहिए। तीसरा यह कि राजसत्ता, धर्म आदि सबसे उच्च है। इन पद्धतियों पर चलने वाली विचारधारा (Scholasticism) पांडित्यवाद कहलाती है। इस समय राज्य का ईश्वरीय सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया था। बाद में राजाओं के अधिकार का सिद्धान्त भी इसी का परिवर्तित रूप रहा था।

आधुनिक राजनैतिक सिद्धान्त—मेकियावेली इस युग का प्रथम विद्वान था। यह इटली का निवासी था (१४६९–१५२७)। इसने राजनीति को स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में विकसित किया। धर्म और नीति से सर्वथा अलग कर दिया। वह राज्य को सुदृढ़ बनाना चाहता था इसलिए (End justifies the means) 'उद्देश्य के अनुसार सब साधन उपयुक्त होते हैं' सिद्धान्त का प्रयत्न किया। इस समय राज्य के सम्बन्ध में नई 'समझौता सिद्धान्त' (Contract Theory) प्रचलित की गई। प्राचीन आनन्दवाद को 'उपयोगितावाद' का नया रूप दिया गया। परन्तु थोड़े ही समय बाद राज्य को सुदृढ़ आधार देने के लिए 'आदर्शवाद' का जन्म हुआ। रूसो, कान्ट, हीगल आदि इसके प्रधान समर्थक हुए। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होने वाली दो क्रान्तियों (औद्योगिक एवं फ्रांसीसी) ने राजनैतिक विचारों में गहरा परिवर्तन किया और उन्नीसवीं शताब्दी में व्यक्तिवाद, पूंजीवाद जनतन्त्रवाद, राष्ट्रीयवाद (राष्ट्रवाद) आदि विकसित हुए। इनमें परस्पर कई विचारधाराओं का सहयोग है। उदाहरणार्थ व्यक्तिवाद में स्वतन्त्रता के अतिरिक्त उपयोगितावाद, पूंजीवाद आदि का सहयोग है। जनतन्त्र और राष्ट्रवाद एक दूसरे के पूरक हैं। समाजवाद का विकास भी इसी प्रकार हुआ है। राष्ट्रवाद का उग्र रूप साम्राज्यवाद और इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीयवाद, संघवाद आदि का जन्म हुआ है। स्थान और स्वभाव के अनुसार इन्हीं सिद्धान्तों के विभिन्न नाम भी दे दिए जाते हैं, जैसे नाजीवाद, फासीवाद आदि। अब हम इन्हीं आधुनिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त अध्ययन करेंगे।

आधुनिक सिद्धान्तों का स्पष्ट विवेचन करने तथा समझने के लिए हमें प्रत्येक सिद्धान्त को तीन भागों में विभाजित कर लेना चाहिये। प्रथम राज्य का आधार क्या है, दूसरा, वर्त्तमान राज्य प्रणाली के दोष क्या हैं और तीसरा, नवीन सिद्धान्त किस प्रकार के साधनों से समाज का परिवर्तन करता हुआ कैसी शासन व्यवस्था स्थापित करना चाहता है। इन्हीं तीन साधनों की सहायता से हम प्रत्येक सिद्धान्त को कसौटी पर परख सकेंगे। प्रत्येक सिद्धान्त का अलग अलग अध्ययन करने से पूर्व हम यह भी जान लेना उचित समझते हैं कि ये सिद्धान्त भी तीन श्रेणी

में विभाजित किये जा सकते हैं। पहले वे जो राज्य को अनावश्यक बुराई (Un-necesesary evil) समझते हैं, जैसे अराजकतावाद, गांधीवाद आदि, दूसरे वे जो राज्य को आवश्यक बुराई (necessary evil) समझते हैं और तीसरे वे जो राज्य को आदर्श समझते हैं।

अराजकतावाद—इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य अनावश्यक बुराई है। समाज में सारे दोष राज्य के कारण ही उत्पन्न हुए हैं और इसी के द्वारा उनकी व्यवस्था भी है, क्योंकि यह एक शक्ति की संस्था है और शक्ति कभी न्याय पर आधारित नहीं हो सकती। साथ ही शक्ति भ्रष्टाचार की ओर ले जाती है और अस्थायी होती है। इसीलिए राज्य परिवर्तनशील होते हैं (Power corrupts and absolute power corrupts absolutely) (What force has created force destroyed)। इसलिये अराजकतावादी राज्य का अस्तित्त्व ही नहीं चाहते। राजकुमार क्रोपोटकिन और महात्मा टालसटाय आदि इसी के समर्थक थे। गांधी जी का सत्ताविहीन रामराज्य भी इसी श्रेणी में आता है। वर्त्तमान समाज के बदलने के लिए ये लोग भी दो तरह के विचार वाले हैं। एक क्रान्तिकारी—जो रक्त क्रान्ति द्वारा राज्य को समाज से हटाना चाहते हैं और दूसरे शान्तिवादी—जो प्रचार द्वारा नई व्यवस्था लाना चाहते हैं। भावी समाज के लिए इन सिद्धान्तवादियों का विश्वास है कि राज्यविहीन स्थिति में अनेक स्वतन्त्र समुदाय होंगे और परस्पर सहयोग के आधार पर पूर्ण व्यवस्था बनेगी। इस सम्बन्ध में उनका एक उदाहरण बहुत लोकप्रिय है। वह यह है कि एक खोके में यदि हम अनेक कंकर पत्थर डाल कर उसे हिलायें तो वे स्वयं इतने सुन्दर ढंग से, कम से कम स्थान में व्यवस्थित हो जायेंगे कि मानव प्रयास वैसा कभी कर ही नहीं सकता। इसी प्रकार सत्ताविहीन समुदायों की अनुपस्थिति में मानव की समस्त संस्थायें स्वतन्त्र रूप से विकसित होंगी और व्यवस्थित भी रहेंगी। मानव का विकास भी उसी अवस्था में पूर्णरूपेण होगा। परन्तु यह सिद्धान्त अधिक लोकप्रिय नहीं रहा।

व्यक्तिवाद—इस सिद्धान्त के समर्थक राज्य को बुराई तो मानते हैं परन्तु आवश्यक भी समझते हैं। इसके समर्थन में वे आर्थिक, ऐतिहासिक, व्यवहारिक, दार्शनिक तथा प्राणिशास्त्रीय तर्क भी प्रस्तुत करते हैं। पर यह अवश्य मानते हैं कि राज्य का कार्य क्षेत्र बहुत सीमित होना चाहिए (Minimum Possible)। न्यूनतम कार्य राज्य द्वारा किये जायें और अधिकांश क्षेत्र व्यक्तियों के लिए स्वतन्त्र आचरण हेतु छोड़ दिये जायें। "That government is the best which governs the least" कम से कम शासन करने वाली सरकार ही श्रेष्ठतम होती है। इस प्रकार के विचार व्यक्तिवादी सिद्धान्त के हैं। यह सिद्धान्त भी अधिक लोकप्रिय नहीं हुआ किन्तु महत्त्वपूर्ण आज भी समझा जाता है। इसका मुख्य कारण है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पोषक और राज्य की एकाधिकारिता का खंडन करने वाला है जिसे सब लोग चाहते हैं।

उपयोगितावाद—यह सिद्धान्त राज्य का आधार उपयोगिता मानता है क्योंकि

राज्य नागरिकों के हित के लिए व्यवस्था करता है, सड़कें बनवाता है और सुरक्षा आदि की व्यवस्था करता है इसलिए यह आवश्यक है यह आनन्दवाद के सिद्धान्त से समर्थन प्राप्त करता है। सुख प्राप्त करना और दुःख से छुटकारा पाना प्रत्येक व्यक्ति चाहता है। इसलिए राज्य की संस्था उपयोगी है। राज्य इसीलिए वे सब कार्य करता है जिसका जनता के लिए उपयोग है। शिक्षा, प्रबन्ध, सफाई, रोशनी आदि की व्यवस्था करना, उद्योग-धन्धों का नियन्त्रण करना इसीलिए राज्य के कार्यक्षेत्र में आता है। किन्तु कुछ विद्वान इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि ऐसा सोचने से राज्य भी एक लाभकारी दुकान या समिति के रूप में मानी जाने लग जायगी और उसकी प्रतिष्ठा गिर जायगी अतः यह सिद्धान्त भी अधिक प्रचलित नहीं हो सका।

आदर्शवाद—इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक स्थायी तथा अत्यन्त उच्च संस्था है। नागरिक जन्म लेते और मर जाते हैं किन्तु यह अखण्ड रूप से प्रवाहित होने वाली सरिता की भाँति है। इसलिए मनुष्यों को राज्य के आधीन ही रहना चाहिए। इसके समर्थन में प्राणिशास्त्र के पिण्ड सिद्धान्त का समर्थन प्राप्त किया जाता है। इसके मतानुसार राज्य पूर्ण शक्तिशाली संस्था है और रहनी चाहिए। आधुनिक काल के नाजीवाद, फासीवाद ने इस सिद्धान्त का बहुत उपयोग किया है। ग्रीन, कान्ट आदि इसके समर्थक हैं। उनका आदर्शवाद थोड़ा संशोधित रूप में है। ग्रीन के मतानुसार राज्य को आदर्श संस्था होने के कारण सुन्दर कार्य करने चाहियें। इसलिए नागरिकों की स्वतन्त्रता भी रहे और व्यवस्था भी बनी रहे। इस दृष्टि से नागरिक जीवन की रुकावटों को दूर करना ही राज्य का प्रमुख कार्य होना चाहिए (Removing the obstacles of civic life or hindering the hinderances)। यह सिद्धान्त बहुत समय तक प्रभावशाली रहा और इसका यदाकदा उपयोग अन्य कई सिद्धान्तवादियों ने किया है।

समाजवाद—वर्त्तमान युग में यह सबसे अधिक प्रभावशाली और लोकप्रिय सिद्धान्त है किन्तु इसका अब इतना विकास हो चुका है कि स्पष्ट संक्षिप्त व्याख्या संभव ही नहीं है। हमारे उपयोग के लिए हम इस प्रकार समझेंगे कि यह वह सिद्धान्त है जो राज्य की सत्ता और समाज की सारी व्यवस्था समाज के ही हाथ में लाना चाहता है। इस समय समाजवादियों की मान्यता है कि राज्य पूंजीपतियों की संस्था है और समाज के सारे साधन इन्हीं पूंजीपतियों के हाथ में हैं। ये संख्या में बहुत कम हैं, किन्तु शिक्षा, धर्म और राज्य के द्वारा ये सारे समाज पर छाये हुए हैं तथा जनता का शेष सारा भाग श्रमिक वर्ग का है जिनका ये शोषण करते हैं। औद्योगिक क्रांति के कारण ये वर्ग बिलकुल स्पष्ट हो गए और इनमें गम्भीर प्रतियोगिता चल रही है। अतः समाज का परिवर्तन आवश्यक है। साम्यवाद, (सिन्डीकलीजम) श्रम संघवाद, श्रेणीमूलक समाजवाद (Guild Socialism) आदि क्रांतिकारी विचारधाराएँ हैं जो रक्तमय क्रांति से परिवर्तन लाना चाहते हैं और समष्टिवाद (Collectivism or State Socialism), फेबियनवाद (Fab-

ianism) आदि शांतिमय साधनों से, पार्लियामेंट आदि के बल पर, परिवर्त्तन लाना चाहते हैं। इन सभी विचारधाराओं को समाजवाद में सम्मिलित किया जाता है।

वैसे तो प्रत्येक विचारधारा के समर्थक अनेक विद्वान हैं और इनका प्रचार भी अलग अलग देशों में आरम्भ हुआ है किन्तु कार्लमार्क्स सबसे अधिक प्रभावशाली है। उसने अपने सिद्धान्त में कुछ बातें बड़ी महत्व की बताई हैं। पहली यह कि मानव के सम्पूर्ण इतिहास की आर्थिक विवेचना की जाय तो यह प्रकट होता है कि आर्थिक आधार ही मानव सभ्यता की नींव है। जब जब इसमें परिवर्तन हुआ मानव समाज का रूप भी बदला है। दूसरी यह कि समाज में हमेशा से वर्ग पद्धति रही है। पहले स्वामी और दास, फिर सामन्त और कृषक और अब पूंजीपति और श्रमिक के वर्ग हैं तथा सदैव एक वर्ग ने दूसरे का शोषण किया है। परन्तु अन्त में श्रमिक वर्ग ही विजेता होता है। तीसरी यह कि आज के औद्योगिक युग मे समाज का आधार श्रमिक है और पूंजीपतियों ने राज्य, शिक्षा और धर्म नियंत्रण में कर रक्खा है, परन्तु यह अधिक समय नहीं चलेगा, क्योंकि धनियों की संख्या निरन्तर कम होती जा रही है और श्रमिक बढ़ते जा रहे हैं। साथ ही मशीन के प्रयोग से मजदूरों की शक्ति और संगठन मजबूत हो रहे हैं अतः क्रांति अवश्य होगी और मजदूर विजयी होंगे (Workers have nothing to loose but their chains)। उन्हें केवल जंजीरों से मुक्ति मिलेगी, यह मार्क्स की घोषणा है। इसके लिए रक्त क्रांति भी वह आवश्यक बताता है और उसके बाद अंतरिम काल के लिए नया समाज स्थापित करने हेतु वह श्रमिकों की तानाशाही भी चाहता है ताकि वर्ग-विहीन और राज्य-विहीन समाज विकसित हो सके। यही मार्क्सवाद वास्तविक साम्यवाद है। परन्तु इस सिद्धान्त में पूर्ण सत्य नहीं जान पड़ती। रूस, चीन आदि देशों में इस सिद्धान्त की मान्यता हो जाने के कारण, विश्व में इस समय विषम स्थिति हो रही है। केवल भविष्य ही बतायेगा कि किस विचारधारा की विजय होती है।

राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद और अंतर्राष्ट्रीयवाद— प्रारम्भ में व्यापारिक और अन्य प्रगति के कारण पिछड़े हुए प्रदेशों में उन्नतिशील देश के नागरिक गए और अपना आधिपत्य जमा लिया; किन्तु जब वहाँ भी जाग्रति हुई तब स्थानीय निवासियों ने अपनी भाषा, धर्म, साहित्य, इतिहास और भौगोलिक स्थितियों का सहारा लेकर अपनी एकता की भावना जाग्रत की और बाद में राजनैतिक दृष्टि से भी स्वतंत्र होना चाहा। विशेष रूप से आर्थिक शोषण करने और इससे बचने के लिए राजनैतिक अधिकार बहुत प्रबल था। अतः राष्ट्रवाद का सिद्धान्त प्रचलित हुआ। एशिया, अमेरिका आदि सभी महाद्वीपों में बीसवीं सदी में यह प्रभावशाली रहा।

जब राष्ट्र स्वतंत्र होकर बलशाली बनने लगे तो प्रतियोगिता की दृष्टि से फिर भी कुछ पिछड़े भाग रह गए और उन्नतिशील देशों ने नए साधनों से, जो राजनैतिक नहीं थे, उन पर अपना प्रभाव जमाए रक्खा और उनकी उन्नति करने का उद्देश्य बताकर विश्व में ख्याति प्राप्त करते रहे। किन्तु इस युग में अधिक छल

चलना संभव नहीं रहा। आविष्कारों और यातायात के साधनों से सारा विश्व एक ईकाई बन गया। अतः स्वतन्त्र राष्ट्र स्वयं पराधीन राष्ट्रों को स्वतन्त्रता देकर मित्र बनाने में लग गए। इस समय इसी दृष्टि से कि प्रत्येक राष्ट्र की क्रियाओं का प्रभाव समस्त विश्व पर होता है, अब अन्तर्राष्ट्रीयवाद और विश्व संघ के प्रस्ताव आ रहे हैं। लीग ऑफ नेशन्स तथा वर्तमान संयुक्त राष्ट्र संघ उसी दिशा में प्रथम चरण है जहाँ मानवता एक बनकर ही जीवित रह सकती है। अन्यथा नए आविष्कार एटम बम आदि के कारण मानव का अस्तित्व खतरे में आ गया है।

गांधीवाद— गांधी जी ने कोई राजनैतिक सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं किया है वे केवल कर्मयोगी थे। परन्तु उनके विचारों में कई विरोधाभास होते हुए भी हमें एकरूपता मिलती है, वही गांधीवाद कहा जाता है। अहिंसा की व्याख्या उनका प्रशंसनीय दर्शन है और राजनैतिक अस्त्रों में निष्क्रिय विरोध (Passive resistance), असहयोग (Non-co-operation), सविनय अवज्ञा आन्दोलन (Civil disobedience) और सत्याग्रह मुख्य हैं। उनके रामराज्य की कल्पना अनुचित सत्तारहित, वर्ग-विहीन, शोषण-मुक्त, सुखी समाज के रूप में व्यक्त हुई है। ग्रामों को वास्तव में गणराज्यों का संक्षिप्त रूप बनाना चाहते थे। वे राष्ट्रीयता के पोषक थे किन्तु यह संकुचित अथवा स्वार्थमूलक नहीं थी। आर्थिक क्षेत्र में उनका प्रयास (ट्रस्टीशिप) का सिद्धान्त बहुत वैज्ञानिक था। वर्ग युद्ध के स्थान पर वे वर्गसमन्वय का सिद्धान्त प्रतिपादित करते थे। यह सिद्धान्त आज के युग में बहुत प्रभावशाली शांतिकारक और महत्वपूर्ण है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. अराजकतावाद पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
२. राजनैतिक विचारधारा से आप क्या समझते हैं? इसके विकास का विवरण लिखिए।
३. आदर्शवाद, व्यक्तिवाद तथा समाजवाद का अलग अलग वर्णन कीजिए।
४. 'राष्ट्रवाद' की परिभाषा लिखिए और इसका साम्राज्यवाद से सम्बन्ध बताइये।
५. गांधीवाद पर एक निबन्ध लिखिए।

—:o:—

पाँचवाँ अध्याय

धर्म और दर्शन

प्रस्तावना— शास्त्रों के अनुसार धर्म का अर्थ है—"धारणाद्धर्म-मित्याहु-धर्मो धारयति प्रजा", अर्थात् एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के साथ ऐसा बर्ताव जिससे सबका कल्याण हो, जिससे समाज के रूप में सामूहिक जीवन संचालित हो सके तथा ईश्वर की इच्छा के अनुकूल सृष्टि का प्रवाह चल सके, उसे धर्म कहते हैं और संस्कृत भाषा में आध्यात्मिक ज्ञान को दर्शन कहते हैं। भारतवर्ष में दर्शन के मुख्य दो रूप स्वीकार किए गए हैं एक नास्तिक और दूसरा आस्तिक। नास्तिक का अर्थ है ईश्वर तथा आत्मा की सत्ता में श्रद्धा और विश्वास न होना तथा आस्तिक का अर्थ है ईश्वर एवं आत्मा के अस्तित्त्व और सत्ता को स्वीकार करना। इसके अतिरिक्त मुख्य मुख्य प्रतिपादकों और उनके आचार्यों के नाम के साथ सम्बन्ध दर्शनों के अन्य भी प्रकार हैं। जैसे :—

(१) **वैशेषिक दर्शन**—इसके आचार्य कणाद हैं तथा इसमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समभाव तथा अभाव, इन सप्त पदार्थों का विवरण तथा निरूपण किया जाता है।

(२) **मीमांसा दर्शन**—आचार्य जैमिनी इस दर्शन के आचार्य हैं। इसमें कर्मकाण्ड को प्रधान रूप में स्वीकार किया गया है। यह दर्शन वेदों आदि के गम्भीर प्रश्नों को व्याख्या द्वारा स्पष्ट करने में सहायक होता है। व्याख्या के कारण इसका महत्व अधिक है।

(३) **वेदान्त दर्शन**—महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास इस दर्शन के आचार्य हैं। इस दर्शन का साहित्य विस्तृत है तथा इस दर्शन में ब्रह्म की अनुपम व्याख्या की गई है।

(४) **सांख्य दर्शन**—महर्षि कपिल इस दर्शन के आचार्य हैं। यह दर्शन प्रारम्भिक एवं अति प्राचीन समझा जाता है। इस दर्शन में दैहिक, दैविक एवं भौतिक तापों से छुटकारा पाने के मार्ग का निर्देशन किया गया है।

(५) **योग दर्शन**—महर्षि पातञ्जलि इस दर्शन के आचार्य हैं। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि योग क्या होता है और उसकी समस्त क्रियाओं का विश्लेषणात्मक वर्णन इसमें दिया गया है।

(६) **न्याय दर्शन**—इसमें न्याय के पाँच अंग स्वीकार किए गए हैं जो प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन हैं।

वास्तव में धर्म और दर्शन का ऐसा गहरा सम्बन्ध है कि एक के बिना दूसरे को समझना बहुत कठिन है। परन्तु एक की सहायता से दूसरे का ज्ञान प्राप्त करना

या, समझना उतना ही सरल भी है। धर्म का व्यापक अर्थ सदैव ही प्रत्येक जाति, समाज अथवा देश के लिए स्वीकार योग्य होता है; किन्तु जब उसका अर्थ किसी एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए अथवा संकीर्ण क्षेत्र में उसका उपयोग करने के लिए किया जाता है तब वह शुद्ध धर्म न रहकर संप्रदाय बन जाता है। यहाँ हमें केवल धर्म का अध्ययन करना है। अतः धर्म का अर्थ हम उन निश्चित सिद्धान्तों से लेते हैं जो मानव प्रकृति के अनुकूल हैं तथा प्रत्येक देश, जाति, क्षेत्र अथवा समाज के लिए वे हितकर सिद्ध होते हैं। फिर भी यह सत्य है कि संसार में प्रचलित धर्मों की यदि इसी कसौटी पर परीक्षा की जाय तो यह ज्ञात होगा कि अधिकांश धर्म इस परीक्षा में पूरे नहीं उतरते। इसका अर्थ यह होगा कि कुछ अभाव अथवा दोष भी धर्मों में दिखाई देते हैं। ये दोष देश और काल की गति के अनुसार भी प्रकट और लुप्त होते हैं। हमारा भारतवर्ष विश्व के अधिकांश धर्मों की जन्मभूमि रहा है। अतः हमारे लिए मुख्य मुख्य धर्मों का संक्षिप्त ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। इनमें हिन्दू धर्म, बुद्ध धर्म, जैन धर्म, ईसाई धर्म तथा मुसलमान धर्म मुख्य हैं।

(१) हिन्दू धर्म—हिन्दू धर्म नाम प्रारम्भिक पारसीकों का दिया हुआ है। इसका कारण यह है कि हमारा यह धर्म सिन्धु नदी की घाटी के साथ सबद्ध है और वे लोग 'सिन्ध' का उच्चारण 'हिन्द' करते थे। सिन्धु तटवर्ती क्षेत्र को हिन्द और यहाँ के निवासियों को हिन्दू कहते थे। इसीलिए इस धर्म का नाम भी हिन्दू धर्म हो गया। 'स' को 'ह' बोलने की प्रथा राजस्थान के मेवाड़ प्रदेश तथा मध्य प्रदेश के उत्तरी भाग (मालवा) में आज भी प्रचलित है जहाँ "सवा सात आना" को "हवा हात आना" और "सासू जी" को "हाहू जी" बोला जाता है। फिर यूरोप निवासियों ने यहाँ आकर इसे 'हिन्दूइज्म' कर दिया और आज यह शब्द दीर्घकाल से प्रचारित हो रहा है। कुछ लोग इसे आर्यों का धर्म भी कहते हैं। कुछ भी कहें यह धर्म भारत की बहुत बड़ी विशेषता है। इस धर्म को किसी एक व्यक्ति या महर्षि ने नहीं चलाया; बरन् शताब्दियों तक निरन्तर प्रयत्नशील रहने के बाद अनुभवों से स्थापित किए गए शाश्वत सिद्धान्तों का संग्रह है। आर्य लोगों की यह विशेषता रही कि उन्होंने कभी भी किसी धर्म का विरोध नहीं किया। इस क्षेत्र में भारतवर्ष और विशेष तौर पर हिन्दू धर्म, अपनी सहिष्णुता के लिए विख्यात है। समय समय पर आने वाली जातियों के धर्म और विचार को भी यह धर्म ग्रहण करता रहा। अतः हिन्दू धर्म बहुत व्यापक बन गया। आज इस धर्म की विशद् व्याख्या के लिए बड़े बड़े ग्रन्थों की रचना आवश्यक है। यहाँ हम केवल हिन्दू धर्म के मुख्य पक्षों का संक्षिप्त अध्ययन करके ही संतोष करेंगे।

हिन्दू धर्म सार्वदेशीय, स्वाभाविक और सार्वजनिक माना गया है। इसीलिए अनेक उथल पुथल, क्रांति-शांति एवं आवर्त्तन-परिवर्त्तन के पश्चात् भी हिन्दू धर्म जीवित और प्रभावशाली है। यह धर्म समाज के दैनिक जीवन और व्यवहार से इतना एकाकार कर गया है कि धर्म का दूसरी संस्थाओं से पृथक करना कठिन समस्या बन गई है। फिर भी हिन्दू धर्म की मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश डाला जाय तो हम

देखेंगे कि इसमें दो बातों की प्रधानता है :—

(१) परमात्मा या चरमतत्व अन्तस्थ है और वही हमारी सूक्ष्म सत्ता है, इसमें दृढ़ विश्वास, तथा (२) उस सत्ता की आत्मोपलब्धि में सहायक एक सुव्यवस्थित जीवन पद्धति की स्थापना। इन सिद्धान्तों से किसी अन्य धर्म के अथवा इनका पालन करने वालों से हिन्दू धर्मियों का कोई मतभेद नहीं होता। इसीलिए यह धर्म सर्वस्वान्तकारी कहा जाता है।

हिन्दू धर्म का स्वरूप— साधारणतः पुनर्जन्म और मुक्तिवाद के सिद्धान्त हिन्दू धर्म में स्वीकार किए जाते हैं। परन्तु इसका बहुत व्यापक और उदार स्वरूप माना गया है। कई प्रकार के विरोधी विचार भी एक ही साथ हिन्दू धर्म में स्थान पाते हैं। जैसे ईश्वर की सत्ता मानने वाले सेश्वर और न मानने वाले निरीश्वर कहलाए। ईश्वर का स्वरूप मानने वाले भी उसके तीन स्वरूपों की मान्यता के अनुसार, निर्गुण-निराकार, सगुण-साकार, तथा सगुण-निराकार कहलाये। तत्पश्चात् 'वाद' भी विकसित हुए जो मुख्य रूप से निम्न छः माने गए हैं। ये वास्तव में वेदान्त के भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के नाम हैं :—

(१) **अद्वैतवाद**—यह भगवान शंकराचार्य का चलाया हुआ वाद है। वे ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या वाले सिद्धान्त को मानते हैं। शंकर का ब्रह्म निर्विशेष तथा निर्गुण है। दृश्य जगत उससे भिन्न नहीं है। संसार केवल नाम और रूप है। माया अनेकरूपा है। परन्तु ज्ञान से माया का नाश हो जाता है। केवल ब्रह्म ही सत्य है। ईश्वर कृपा में उनका विश्वास है तथा उपासना, भक्ति और आचार का महत्त्व स्वीकार करते हैं।

(२) **विशिष्टाद्वैतवाद**—यह महाप्रभु रामानुजाचार्य का चलाया हुआ है। उनका ब्रह्म चिद् चिद् विशिष्ट है। इसीलिए विशिष्टाद्वैत वाद कहलाया। आचार से ज्ञान श्रेष्ठ समझा गया और बुद्धि की महत्ता बढ़ गई। जीव भी नित्य मुक्त शुद्ध ब्रह्म है और उसको कोई व्यवहार बन्धन में नहीं बांध सकता। विषयभोग आदि केवल व्यवहार और कल्पना है और सदाचार, उपासना आदि अज्ञान। ब्रह्म के चेतन अंश से चित् (जीव) और अचेतन से जड़ (प्रकृति) उत्पन्न हुई है। ब्रह्म जगत का कारण है और जीव भी ब्रह्म का ही अंश है। जीव और ब्रह्म दोनों चेतन हैं। मुक्ति ब्रह्म की कृपा से ही मिलती है।

(३) **विशिष्टाद्वैत मत शरणगति**—यह प्रपत्ति का मार्ग है। इसके अनुसार शास्त्र के अनुकूल कार्य श्रेय तथा प्रेय तथा प्रतिकूल कार्य त्याज्य हैं। शास्त्र ईश्वराज्ञा हैं। बाद में इसी वाद में 'शिव-पूजक' शैव और 'विष्णुपूजक' वैष्णव कहलाने लगे।

(४) **द्वैतवाद**—यह महाप्रभु (माधव) मध्वाचार्य द्वारा चलाया हुआ है। ये ब्रह्म और जीव को एक नहीं मानते, दोनों पृथक सत्ताएँ हैं। जगत भी मिथ्या नहीं है। ज्ञान चिन्तन से प्राप्त होता है। ब्रह्म शास्त्रगम्य है। जीव को मुक्ति प्राप्ति के लिए, ध्यान धारणा, समाधि साधनों का प्रयोग करना चाहिए।

(५) **द्वैताद्वैतवाद**—यह महाप्रभु निम्बार्क द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इसके अनुसार जीव अवस्था भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है और अभिन्न भी। जीव तथा जगत दोनों ब्रह्म के परिणाम हैं। मुक्ति का साधन केवल उपासना है।

(६) **शुद्धद्वैतवाद**—यह महाप्रभु वल्लभाचार्य का चलाया हुआ है। इन्होंने जगत के मिथ्यापन का खण्डन करते हुए उपासना को महत्त्व दिया है। श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं। अतः जीव के लिए ब्रह्म से प्रीति करना श्रेष्ठतम मार्ग है। ब्रह्म का विवेचन शास्त्रानुसार ही सम्भव होता है।

इस प्रकार कर्मफल में विश्वास, पुनर्जन्म में श्रद्धा, मुक्ति में विश्वास, वेदों की सत्यता, ईश्वर की एकता, अवतार में विश्वास आदि मुख्य तत्व हैं जो हिन्दू धर्म के अन्तर्गत स्वीकार किए गए हैं। कुछ वेषभूषा आचार विचार आदि भी हिन्दू धर्म के अंग माने गए हैं जैसे यज्ञोपवीत, शिखा, व्रत-उपवास, यज्ञ, उपासना, कथा-कीर्तन, स्वाध्याय आदि। इसके अतिरिक्त वर्णाश्रम धर्म में निष्ठा, गो-पूजा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि भी हिन्दू धर्म के लक्षण माने गए हैं।

हिन्दू धर्म अति प्राचीन है और युगयुगान्तर से यह संसार की सेवा करता आ रहा है। इसका विकास वैदिक काल, ब्राह्मण काल, उपनिषद काल, स्मृतिकाल तथा पौराणिक काल में होकर हुआ है तथा प्रत्येक काल में इसका नवीन विकसित भिन्न भिन्न रूप रहा है। इसलिए इसका पूर्ण विवरण इतनी सी पुस्तक में सम्भव नहीं है केवल यह और कहा जा सकता है कि हिन्दू धर्म की कुछ मुख्य विशेषताओं की ओर ध्यान देते समय वर्णाश्रम धर्म को नहीं भुलाया जा सकता। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्ण थे जिनकी स्थापना, वस्तुतः समाज की स्थायी किन्तु भेद-रहित, व्यवस्था की दृष्टि से की गई थी तथा रूढ़िगत अथवा केवल जन्मप्रधान न होकर कर्म प्रधान भी थी। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास चारों आश्रमों में विभाजित एवं व्यवस्थित होता था। जाति-प्रथा, उसके गुण एवं दोष, संयुक्त परिवार प्रणाली तथा परोपकार वृत्ति की भावनाएँ भी हिन्दू धर्म के साथ ऐसी संबद्ध हैं कि कम से कम उनका प्रसंग आ जाना तो अनिवार्य ही है।

इस प्रकार हिन्दू धर्म की विशेषताओं का अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वास्तव में यह धर्म प्राचीन, व्यापक, उदार, सहिष्णु तथा चिरन्तन है और यही कारण है कि इसके अनुयायी साधारण श्रेणी के शान्त व्यक्ति हैं तो भी संसार के समक्ष अपनी अक्षत प्रतिभा के साथ उपस्थित होकर पथ-प्रदर्शन के लिए प्रस्तुत है।

बौद्धधर्म—सम्पूर्ण इतिहास में ई० पू० छठवीं शताब्दी अधिक महत्वपूर्ण है। इस समय लगभग समस्त विश्व में मानव-मस्तिष्क एक अद्भुत स्पष्टता की अभिव्यक्ति कर रहा था। सर्वत्र राजतंत्र और पुरोहितवाद की परम्पराओं तथा बलिदान की प्रथा आदि की गहन निद्रा से मानव जाग रहा था। ऐसा प्रतीत होता था जैसे २० हजार वर्ष के शैशवकाल के पश्चात् मानव जाति किशोरावस्था को प्राप्त हो गई है। सम्पूर्ण विश्व में अनेक आचार्य उत्पन्न हुए और मानव का मार्ग दर्शन

किया इस समय बेबीलोन में इसाइया (Isaiah), चीन में कन्फ्यूशियस और लाओत्से (Lao-tse) और भारत में गौतम बुद्ध (५६३-४८७ ई० पू०) हुए। ये कपिलवस्तु के राजा शुद्धोधन के पुत्र थे। वैशाख की पूर्णिमा के दिन इनका जन्म हुआ था इसीलिए इस पूर्णिमा को बुद्ध पूर्णिमा भी कहते हैं इनकी पत्नी यशोधरा तथा पुत्र राहुल था। बुद्ध (सिद्धार्थ) प्रारम्भ से ही विचारशील थे और सत्य की खोज में लीन रहते थे। कुछ घटनाओं की इनके जीवन पर ऐसी प्रतिक्रिया हुई कि इनके मन में यह शंका बैठ गई कि यह संसार दुःख का आगार है और मनुष्य को इनसे मुक्त होने की चेष्टा करनी चाहिए। राज्य का लोभ, पारिवारिक जीवन, पत्नी तथा पुत्र का मोह उन्हें चिन्तन के पथ से नहीं रोक सके और एक रात्रि को अचानक गृह-त्याग कर सन्यास ग्रहण कर लिया और जंगल की ओर चल दिए। अनेक विद्वानों से सम्पर्क स्थापित करते हुए भ्रमण करते रहे। वैशाली के आलार-कालाम और राजगृह के रुद्रक की शिष्यता भी ग्रहण की; किन्तु उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। उरबेला के जंगल में ६ वर्ष तक पाँच ब्राह्मण सन्यासियों के साथ तपस्या भी की, परन्तु सत्य प्राप्त नहीं हुआ। अन्त में असन्तोष की अवस्था में ही ये बौद्ध गया पहुँचे। एक दिन जबकि वे बोधि-वृक्ष के नीचे बैठे ध्यान लगा रहे थे उन्हें 'बोधि-सत्व' की प्राप्ति हो गई। तभी से ये बुद्ध एवं इनके अनुयायी बौद्ध तथा इनके सिद्धान्त बौद्धधर्म के नाम से प्रचारित हुए। सारनाथ (वाराणसी के पास) में भगवान बुद्ध ने अपना पहला ज्ञानोपदेश किया, जिसे 'धर्म-चक्र-परिवर्तन' कहते हैं। ई० पू० ४८३ ई० में कुशीनारा में महात्मा जी का देहावसान हुआ, जिसे निर्वाण कहते हैं।

बौद्धधर्म के आधारभूत सिद्धान्त—यह धर्म वास्तव में मूल रूप से नीति-शास्त्र की ऐसी पद्धति कहा जा सकता है जिसके द्वारा सत्य विचार और सत्य आचरण का अभ्यास होता है। बौद्धधर्म में प्रमुख रूप से निम्नलिखित सिद्धान्त हैं, जो इस प्रकार हैं :—

(१) **चार सर्वोच्च सत्य**—प्रथम, जीवन दुखमय है, दूसरा जीवन और सुखों की लालसा दुःख का प्रमुख कारण है, तीसरा, उस इच्छा के नष्ट हो जाने से दुःख का नाश हो जाता है और चौथा यह इच्छा या लालसा पवित्र जीवन से नष्ट हो जाती है अर्थात् निर्वाण प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार दुःख, दुःख का कारण, दुःख का निवारण तथा दुःख के निवारण का मार्ग, ये चार सत्य हैं। उनका मत है कि निर्वाण इसी संसार में प्राप्त हो सकता है। अविद्या का नाश एवं ज्ञान की प्राप्ति ही निर्वाण है। इस लालसा को समूल नष्ट कर देना चाहिए तथा इसके निवारण के लिए शुद्ध विचार, पवित्र उद्देश्य, उत्तम प्रार्थना तथा शान्ति आवश्यक है। बौद्धधर्म की नीति से सम्बन्धित दस आदेश भी हैं जिनमें जीव को मत सताओ, चोरी मत करो, व्यभिचार मत करो, असत्य मत बोलो, नशा मत करो आदि मुख्य हैं।

(२) **अष्टांग मार्ग**—सांसारिक कष्टों से मुक्त होने के लिए निम्न आठ मार्ग निर्धारित किए गए हैं :—(१) सम्यक् दृष्टि (२) सम्यक् संकल्प (३) सम्यक्

वाक् (४) सम्यक् कर्मान्त (५) सम्यक् आजीविका (६) सम्यक् व्यायाम (७) सम्यक् स्मृति (८) सम्यक् समाधि। इस मार्ग को मध्यम मार्ग भी कहते हैं। क्योंकि इसमें अधिक कष्टप्रद तप, यज्ञ आदि का त्याग किया है और सांसारिक भोग विलास आदि का वहिष्कार किया गया है। इस मार्ग के अनुसरण से कोई विशेष कष्ट न होते हुए मुक्ति प्राप्त हो जाती है इसलिए इसे मध्यम मार्ग की संज्ञा दी गई है।

(३) **कर्मवाद**—जैसा कर्म करोगे वैसा फल मिलेगा—यह सिद्धान्त कर्मवाद है। महात्मा बुद्ध का इसमें विश्वास था। परन्तु वे वलि और यज्ञ को अच्छा नहीं मानते थे। उनका विश्वास था कि हम इन साधनों से बुरे कर्मों को अच्छा नहीं बना सकते और न पूर्व जन्म के पाप ही धो सकते हैं। मुक्ति तो इसी जीवन में अच्छे कार्य करने से मिल सकती है।

(४) **नास्तिकवाद**—महात्मा बुद्ध ईश्वर का अस्तित्व नहीं मानते थे। इस विषय में वे उदासीन थे। उनका विश्वास था कि कार्य और कारण की प्रतिक्रिया से सृष्टि का सृजन होता है, किसी सत्ता के द्वारा नहीं। अतः यह अनीश्वरवादी सिद्धान्त है।

(५) **आत्मा और पुनर्जन्म**—बुद्ध के मतानुसार आतमा पाँच स्कन्धों का समुदाय है जिसमें विज्ञान स्कंध की प्रधानता है। इसे 'पुग्गल' या 'पुद्गल' भी कहते हैं तथा ये पांच स्कन्ध, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान कहे गए हैं। विज्ञान स्कन्ध को आत्मा का स्थान दिया जा सकता है परन्तु आत्मा की अमरता में वे विश्वास नहीं करते इसे 'जरा' माना है। पुनर्जन्म को बुद्ध मानते थे किन्तु इस रूप में कि अनित्य अहंकार तथा तृष्णा का अपने कर्म के अनुसार नया जन्म होता है।

(६) **अहिंसा**—'अहिंसा परमो धर्मः' बुद्ध धर्म की प्रमुख विशेषता मानी जाती है। प्राणी मात्र को पीड़ा पहुँचाना अपराध है। इसलिए संभवतः अहिंसा के पालन पर बल दिया था।

उपरोक्त मूल सिद्धान्तों के अतिरिक्त हिन्दू धर्म के वर्णाश्रम में इनका विश्वास नहीं था। वेदों को ईश्वरीय ज्ञान के ग्रंथ स्वीकार नहीं किया। मूर्तिपूजा को अनुचित एवं अनावश्यक समझता था। यद्यपि हम देखते हैं कि बाद में इस धर्म में भी मूर्तिपूजा (बुद्ध की पूजा) आरंभ हो गई।

बौद्ध धर्म का प्रसार—यह धर्म भारतवर्ष में तो शीघ्र फैल ही गया, विदेशों तक में भी व्याप्त हो गया था। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित समझे जा सकते हैं :—(१) महात्मा बुद्ध स्वयं एक आकर्षक व्यक्ति से युक्त उच्चकोटि के दृष्टा थे जिनका सम्पर्क जादू का सा प्रभाव करता था। (२) अभी तक हिन्दू धर्म का ज्ञान व उपदेश संस्कृत भाषा में होते थे जो दुरुह और कष्टसाध्य होते थे। इस धर्म के सिद्धान्त सरल और भाषा सुबोधगम्य थी जिसे साधारण से साधारण व्यक्ति भी समझता था। (३) धर्म की प्राचीन तथा समय के विपरीत प्रचलित रूढ़ियों का खण्डन किया। (४) जाति भेद एवं जन्म से जाति का संबंध होने में

विश्वास नहीं करते थे। वे कहते थे मनुष्य कर्म से ऊंच नीच बनता है, जन्म से नहीं। (५) वे ईश्वर, आत्मा, जीवन-मरण आदि गंभीर विषयों का विवेचन नहीं करते थे। (६) उच्च वर्ग के लोग जैसे सम्राट अशोक, हर्ष आदि का पूर्ण सहयोम मिला और (७) इसका विरोध करने वालों के सर्वथा अभाव के कारण यह द्रुतगति से फैल गया। इन कारणों से शीघ्र ही बौद्ध धर्म लोकप्रिय बन गया और धीरे धीरे नेपाल, तिब्बत, चीन, मंगोलिया, कोरिया, जापान, मलाया, लंका, अफगानिस्तान, मेसोपोटामिया आदि देशों तक इसका प्रचार हो गया।

अवनति के कारण—अनेक कारणों में से कुछ कारण निम्नलिखित माने जा सकते हैं :—(१) हिन्दुओं ने हिन्दू धर्म का प्रभाव कम होता देखकर बुद्ध को भी विष्णु का नवाँ अवतार मान लिया जिससे बौद्ध जनता का ध्यान पुनः हिन्दू धर्म की ओर चला गया। दोनों धर्मों में एकरूपता सी स्थापित हो गई। कथाएं एक सी प्रचलित हो गई अतः दोनों धर्मों में भेद करना कठिन हो गया। (२) बौद्ध धर्म का अहिंसावाद उच्च व सुन्दर आदर्श तो था किन्तु व्यवहार योग्य नहीं था। राजाओं को युद्ध करने ही पड़ते थे। साधारण जनता मांसाहार को छोड़ाने में कुछ कठिनाई अनुभव करती थी। (३) इसके अतिरिक्त हिन्दू धर्म के स्तम्भ, ईश्वरवाद और वेदों की सत्यता का खण्डन अथवा इनके प्रति उदासीनता भारतवर्ष की जनता जनार्दन को रुचिकर नहीं हुआ और फिर शंकराचार्य के अवतरित हो जाने पर तो बौद्ध धर्म ग्रस्त सा ही हो गया। (४) बौद्ध धर्म में भी कुछ निहित दोष अवनति के लिए उत्तरदायी हैं। जैसे अनेक समुदाय, हीनयान, महायान आदि की स्थापना से नए जमते हुए धर्म की एकता को ठेस लगी। बाह्य आडंबर अधिक आ जाने से लोगों का विश्वास कम होने लगा। बौद्ध भिक्षु भी चरित्रवान और निर्लोभी न रह सके। मठों और विहारों में व्यभिचार बढ़ने लग गया। इसके अतिरिक्त राज्यों के शासकों का समर्थन बाद के समय में नहीं मिला। (५) अंत में विदेशियों के आक्रमण भी इसके पतन का एक कारण बन गये। मुसलमानों ने विहार नष्ट कर दिए, शिक्षाकेन्द्र भस्मीभूत कर दिए, भिक्षुओं की हत्याएं कर दीं, बचे हुए विदेशों में चले गए और शेष लोगों ने हिन्दू धर्म की शरण ली।

बौद्ध धर्म का महत्त्व—इस धर्म की अनेक विशेषतायें भारतवर्ष के लिये अनेक देन हैं जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं—(१) भारतवर्ष में सामाजिक समानता की स्थापना, (२) राजनैतिक क्षेत्र में राजा और प्रजा का सम्बन्ध पिता पुत्रवत् सिद्ध एवं स्थापित करने में इस समय के राजाओं ने बहुत तत्परता दिखाई। गणतंत्र राज्यों का प्रारम्भ हुआ परन्तु राजतन्त्र भी विद्यमान रहे। इस प्रकार लोकतांत्रिक भावना का प्रसार हुआ, (३) सामाजिक एवं राजनैतिक दृष्टि से भारतवर्ष को 'एक राष्ट्र' की भावना के लिए बल मिला, (४) मठ प्रथा का आरम्भ इसी समय से हुआ था। ब्राह्मण काल का रूढ़िवाद मिटाने में, शिक्षा को लोकप्रिय बनाने में,

तथा भारतवर्ष का दूसरे देशों से सम्बन्ध जोड़ने में बौद्ध धर्म ने अद्भुत कार्य किया है। इसी कारण बाद में व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध भी स्थापित हो सके। यात्रियों का आदान प्रदान हुआ। यह भी कुछ लोगों का मत है कि मूर्तिपूजा भी इसी समय आरम्भ हुई इसलिये मूर्ति और मन्दिरों के चलन के साथ विहार, चैत्य तथा स्तूप आदि की कला के विकास का श्रेय भी इसी धर्म को दिया जाता है, (५) इस धर्म ने अद्भुत साहित्य प्रदान किया जो साधारण जनता की भाषा में सुबोध रूप में सुलभ हुआ। इस साहित्य को तीन भागों में बांटते हैं जिन्हें 'त्रिपिटक' कहते हैं। विनयपिटक, सूत्रपिटक एवं अभिधम्म पिटक इनके अलग अलग नाम हैं। इसी प्रकार जातक ग्रन्थों का स्थान और भी महत्त्वपूर्ण है। इनमें बुद्धदेव की पूर्वजन्म की ५५० कथायें हैं और उन्हें २१ भागों में संकलित किया गया है।

इस प्रकार बौद्धधर्म महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादन करके, अपनी महत्त्वपूर्ण देन देश को अर्पित कर शान्त हो गया। वर्त्तमान समय में भारतवर्ष में कुछ बौद्ध शेष हैं। दूसरे देशों में जैसे चीन, ब्रह्मा, तिब्बत, जापान, लंका आदि में अभी इनकी संख्या बहुत है। जहाँ साम्यवाद का प्रसार हो रहा है वहाँ से तो सभी धर्म कूच कर रहे हैं। इस प्रकार भारतवर्ष में, जहाँ बौद्ध धर्म का जन्म हुआ था, अब कहीं शेष नहीं रहा।

जैन धर्म—यह धर्म बौद्ध धर्म की अपेक्षा बहुत प्राचीन माना जाता है। इस धर्म के अब तक २४ तीर्थंकर माने जाते हैं जिनमें ऋषभ देव प्रथम एवं वर्द्धमान महावीर अन्तिम माने जाते हैं। अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा महावीर स्वामी का योग इस धर्म में सर्वाधिक माना गया है। इनका जन्म वैशाली के निकट एक क्षत्रिय परिवार में हुआ था। इन्होंने भी लगभग ३० वर्ष की आयु में अपनी पत्नी और परिवार को त्याग दिया था और वर्षों तक भ्रमणशील सन्यासी जीवन व्यतीत करते रहे तब इन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् लगभग ३० वर्ष तक गंगा के मैदान में पर्याप्त पर्यटन करते हुए लोगों को उपदेश देते रहे। बिम्बसार और अजातशत्रु, जो मगध के शासक थे, इनसे बहुत घनिष्ठ थे। अन्त में ई० पू० ४६७ में राजगढ़ के निकट इनका देहावसान हो गया।

सिद्धान्त—बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म भी जनता को आकर्षक लगा था। जैन धर्म का विश्वास है कि ईश्वर संसार का कर्त्ता नहीं है। संसार अनादि और अनन्त है। परन्तु ये लोग आत्मा की अमरता एवं अस्तित्त्व में विश्वास करते हैं। आत्मा पर कर्मों का प्रभाव पड़ना है। ये वेदों को तो नहीं मानते परन्तु अनात्मा-वादी भी नहीं हैं। जीवन की एकता में विश्वास करते हैं और यह भी मानते हैं कि जड़ में भी जीवन होता है। उनके अनुसार छः जीवन श्रेणियाँ थीं—पृथ्वी, वायु, जल, तेज, वनस्पति एवं त्रस। सृष्टि अनादि है किन्तु इसके संचालन के लिये ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। आत्मा कर्मानुसार भूल कर संसार-चक्र में रहता है तथा तपस्या और ज्ञान द्वारा इस चक्र से मुक्त हो जाता है। ऐसा कैवल्य प्राप्त आत्मा तीर्थंकर हो जाता है और ऐश्वर्यान्वित भी हो जाता है। मोक्ष पर जैन धर्म बहुत बल

देता है तथा इसके लिए तीन साधन—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् चरित्र भी निर्धारित करता है। इन्हें त्रिरत्न भी कहते हैं। पवित्र जीवन व्यतीत करने के लिए 'पंच महाव्रतों' का प्रतिपादन किया गया है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य। तपस्या को भी जैन धर्म में बहुत महत्त्व दिया है। यह बाह्य और आभ्यन्तर दो प्रकार की मानी गई है। पहली तपस्या में अनशन, चान्द्रायण व्रत, भिक्षाचर्या, रस परित्याग, कायक्लेश और संलीनता (शरीर सेवा) तथा दूसरी तपस्या में विनय, सेवा, प्रायश्चित्त, स्वाध्याय, ध्यान और शरीर त्याग सम्मिलित हैं। सबसे अधिक जोर इस धर्म में अहिंसा पर ही दिया गया है। यज्ञ, बलि एवं अनुष्ठान को ये भी अच्छा नहीं मानते। इस प्रकार जैन धर्म ईश्वर और आत्मा, कर्मवाद तथा विषयों के दमन का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है।

जैन धर्म का महत्त्व—बौद्ध धर्म की भांति जैन धर्म भी भारतवर्ष के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में अपना विशेष स्थान रखता है। अत्यन्त शान्तिमय सिद्धांत होने के कारण अधिकांश समृद्धिशाली लोगों ने ही इसे अपनाया। इस धर्म ने हिन्दू धर्म का विरोध भी नहीं किया और संसार को भी नहीं छोड़ा। संसार में रह कर वे सुख और शान्ति व्याप्त करना चाहते थे इसीलिए चिकित्सालय, धर्मशालायें, दान, मन्दिर निर्माण आदि कार्य में ये लोग संलग्न हुए। साहित्य पर भी जैन धर्म का प्रभाव हुआ। जैन महाकवि त्रिलोवर आज भी प्रसिद्ध हैं जिसने दर्शन, तर्क, व्याकरण, कहानियाँ, कविता आदि सब पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। भवन निर्माण के कार्य द्वारा वास्तुकला की भी उत्कृष्ट उन्नति हुई, चित्रकला तथा पच्चीकारी के कार्य भी आगे बढ़े। तत्कालीन हस्तलिखित पुस्तकों की लिपि एवं चित्रकला आज भी आश्चर्य में डाल देती हैं।

बौद्ध धर्म की भांति बाद में जैन धर्म भी दिगम्बर और श्वेताम्बर दो शाखाओं में विभाजित हो गया और इसका मुख्य क्षेत्र भी गंगा की घाटी से हट कर मथुरा, उज्जैन, गुजरात आदि की ओर हो गया। वर्त्तमान समय में प्राचीन जैन साहित्य के प्रकाशन तथा मन्दिरों आदि के पुनर्निर्माण द्वारा जैन धर्म चैतन्य हो रहा है।

ईसाई धर्म—जिस समय रोम साम्राज्य में प्रथम सम्राट ऑगस्टस सीजर शासन कर रहा था, उस समय जीसस (Jesus), जो ईसाई धर्म का क्राइस्ट है, का जन्म जूदिया (Judea) में हुआ था। उसके नाम पर ही उस धर्म का उत्कर्ष होने वाला था जो सम्पूर्ण रोम साम्राज्य का अनिवार्य रूप से राजधर्म होता। ईसाई जगत के अधिकांश लोगों की धारणा है कि जीसस उस सम्पूर्ण विश्व के ईश्वर का अवतार था जिसे सर्वप्रथम यहूदियों ने स्वीकार किया था। इतिहासकार इस विचार को मान्य अथवा अमान्य घोषित करने में असमर्थ हैं।

जीसस जूदिया में टाइबेरियस (Tiberius) सीजर के राज्यकाल में प्रकट हुये। वे मसीहा थे। उन्होंने उनके पूर्ववाले यहूदी मसीहाओं की भांति ही उपदेश दिये। यह कार्य उन्होंने लगभग तीस वर्ष की आयु में आरम्भ किया था। इससे

पूर्व जीसस का कैसा जीवन था, पूर्ण रूप से अज्ञात है। उनके जीवन तथा उपदेशों के सम्बन्ध में हमें जो साधन प्राप्त हैं, वे केवल चार सिद्धान्त हैं। वे चारों एकमत होकर हमें उस व्यक्तित्व का ज्ञान कराते हैं और तब हमें कहना पड़ता है कि "यह व्यक्ति वास्तव में था, कल्पना नहीं हो सकती" अन्य धर्मों की भांति ईसाई धर्मावलम्बियों ने भी ईसामसीह का चित्र विचित्र रूप में उपस्थित कर दिया है। परन्तु वे वास्तव में ऐसे नहीं थे जैसे महात्मा बुद्ध की मूर्तियाँ तक बनने लगीं और मूर्ति का वास्तविक व्यक्तित्व से शत प्रतिशत समानता का सम्बन्ध नहीं रहा था, ऐसे ही ईसा मसीह के साथ भी हुआ।

ईसा मसीह (Jesus) एक निर्धन अध्यापक थे जो जूदिया के रेगिस्तान में भ्रमण करते थे और यदाकदा जो भिक्षा के रूप में भोजन मिलता था उससे जीवन निर्वाह करते थे। इसलिये इनका चित्र स्वच्छ वेषभूषा में सुन्दरता के साथ प्रस्तुत करना भूल है। वे बड़े दयालु, गम्भीर तथा उत्सुक (उत्कण्ठित), तीव्र स्वभावी जीव थे तथा एक नया, सरल और गम्भीर सिद्धान्त—ईश्वर का सार्वजनिक स्नेहमय पितृत्व (Universal loving Fatherhood of God) तथा स्वर्गिक साम्राज्य का अवतरण (Kingdom of Heaven) का उपदेश देते थे। वे सामान्य भाषा का प्रयोग करते थे परन्तु उनका व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक था। उनके अनुयायी स्वयं आकर्षित होते थे और वे उन्हें स्नेह तथा उत्साह से आप्लावित कर देते थे। निर्बल और रोगी उनके पास आकर समर्थ और स्वस्थ हो जाते थे, तो भी यह सच है कि उनका शरीर निर्बल ही था। यह प्रसिद्ध है कि जब प्रचलित प्रथानुसार उनके वक्ष पर क्रॉस रक्खा गया तो वे मूर्च्छित हो गये। उन्होंने अपने प्रदेश के आस पास केवल तीन वर्ष ही अपने धर्म का प्रचार किया और फिर जेरुसलम आ गये जहाँ उन पर जूदिया में विचित्र राज्य स्थापित करने का दोषारोपण किया। इस दोषारोपण की न्याय-परीक्षा हुई और दो चोरों के साथ उन्हें प्राणदण्ड सुनाया गया।

ईसामसीह के सिद्धान्त—महात्मा ईसा का स्वर्गिक साम्राज्य का सिद्धान्त उनका मुख्य उपदेश था और अभी तक के प्रचलित सिद्धान्तों में, जिन्होंने कुछ भी हलचल और मानवीय विचारों में परिवर्तन किया है, अवश्य ही अत्यन्त क्रांतिकारी सिद्धान्त है। यह खेद की बात है कि उस समय की जनता उनके इतने महत्त्वपूर्ण उपदेशों को न समझ सकी थी। केवल इस शंका मात्र से ही कि तत्कालीन स्थापित परम्पराओं के प्रति यह एक चुनौती थी, यह अपराध हुआ। वास्तव में यह सिद्धान्त मानव जाति के लिए साहसी और परिवर्तनकारी उपदेश था। ईश्वर परम पवित्र और न्यायी है। उनके मतानुसार ईश्वर व्यापारी नहीं है, इस स्वर्गिक साम्राज्य में न कोई उच्च है और न कोई कृपा-पात्र। ईश्वर समस्त प्राणियों का जीवित पिता है; और सूर्य की भाँति अपनी कृपा बताने योग्य नहीं है। समस्त मानव मात्र परस्पर भाई हैं और पापी तथा पुण्यात्मा, उस परम पिता के लिए, सब समान हैं। कुछ दृष्टान्तों में यह भी प्रकट किया गया है। महात्मा ईसा ने इस प्रवृत्ति की बड़ी

भर्त्सना की थी कि हम अपनी तथा अपने जनों की बहुत प्रशंसा तथा दूसरी जातियों की निन्दा करने में लग जाते हैं। श्रमिकों से सम्बन्धित दृष्टान्त में, उन्होंने यहूदियों का यह दावा कि वे ईश्वर से कुछ विशेष अधिकार पाने के योग्य हैं, ठुकरा दिया था। उनका मत था कि वे सब जो परमेश्वर के राज्य में है, परमेश्वर उन सब के लिए एकसा है। उसके व्यवहार में कोई अन्तर नहीं होता क्योंकि उसकी उदारता की कोई सीमा नहीं है। वह प्रत्येक व्यक्ति से, अपनी योग्यतानुसार कर्तव्य पालन चाहता है। उसके राज्य में कोई विशेषाधिकार, कोई छूट और कोई बहाने नहीं हैं।

यहूदियों को महात्मा ईसा से यह भय लगा कि उनके पारिवारिक सुदृढ़ संगठनों और उनके प्रति प्रेम की गहराई में अन्तर आ जावेगा और वह सचमुच विश्व प्रेम की धारा में परिवार आदि की संकीर्ण मनोवृत्तियों को बहा ले जाने योग्य था। उसका सम्पूर्ण ईश्वरीय साम्राज्य उसके अनुयायियों से ही भरा होना चाहिए। महात्मा ईसा ने इस प्रकार स्थानीय राष्ट्र प्रेम की सीमा और पारिवारिक सीमित बन्धनों को समाप्त कर दिया और मानव-भ्रातृत्व तथा ईश्वरीय पितृत्व की पवित्र भावना का प्रसार किया। यही नहीं आर्थिक क्षेत्र में व्याप्त वर्ग-भेद की निन्दा की, निजी सम्पत्ति को बुरा बताया और व्यक्तिगत लाभ लेने की प्रवृत्ति को छोड़ने का उपदेश दिया। उनका विश्वास था कि मानव मात्र साम्राज्य से सम्बन्धित हैं और उनकी सारी सम्पदा साम्राज्य की है; सब मनुष्यों के लिए केवल पवित्र जीवन ही रहने योग्य है और हमारा सर्वस्व उसी भगवान की सेवा में अर्पित हो। व्यक्तिगत सम्पत्ति और निजी-जीवन की गोपनीयता को उन्होंने सदैव बुरा बताया। यह कहा जाता है कि एक व्यक्ति उनके चरणों में लिपट कर यह प्रार्थना करने लगा कि "स्वामी मैं क्या करूँ जिससे मैं अमर हो जाऊँ।" महात्मा ईसा ने उससे कहा "मुझे स्वामी क्यों कहते हो, विश्व का स्वामी केवल एक है वह परमपिता। आपको उसके आदेशों का ज्ञान है, कि (१) व्यभिचार न करो, (२) हिंसा न करो, (३) चोरी न करो (४) असत्य साक्षी न दो, (५) छल न करो, और (६) माता-पिता का सम्मान करो।" उस व्यक्ति ने उत्तर दिया 'स्वामी यह तो सब मैं अपने यौवनकाल से ही करता आ रहा हूँ। तब महात्मा ईसा ने उसे स्नेहमयी दृष्टि से निहारा और कहा "आपमें एक अभाव है, पुनः जाइए और आपके पास जो कुछ है, सब विक्रय करके निर्धनों में वितरित कर दीजिए तो स्वर्ग में आपके लिए कोष भर जायगा। तब आप आकर क्रॉस धारण करके मेरा अनुसरण कीजिए।" तब वह बड़ा उदास हो गया क्योंकि उसके पास अपार सम्पत्ति थी। वे स्पष्ट कहा करते थे कि सुई के छिद्र में से ऊँट का निकलना तो सरल है परन्तु सम्पत्तिशालियों का स्वर्ग द्वार में प्रवेश पाना अत्यन्त कठिन है।

महात्मा ईसा ने केवल नैतिक एवं सामाजिक क्रांति ही नहीं की, वरन् अपने उपदेशों द्वारा स्पष्ट राजनैतिक परिवर्तन भी किया था। यद्यपि वे कहते थे कि उनका साम्राज्य इस संसार में नहीं, स्वर्ग में है; सिंहासन पर नहीं, मानव हृदय

में है; परन्तु इन सब सिद्धान्तों का क्रान्तिकारी प्रभाव बाह्य जगत पर होना अवश्यम्भावी था। उसके श्रोताओं ने चाहे पूरा सुना या समझा न हो; किन्तु वे इतना अवश्य समझ गए थे कि ये क्रान्तिकारी विचार हैं। उनका विरोध, वह स्थिति और प्राणदण्ड इस बात को सिद्ध करते हैं कि उनका मानव-जीवन में क्रांति करने का निर्णय बहुत स्पष्ट एवं दृढ़ था। इसीलिए सब धनाढ्य और समृद्धिशाली लोग उनसे भयभीत हो गए थे। महात्मा ईसा एक ऐसे भयंकर नैतिक शिकारी की भाँति थे जो अभी तक गोपनीय माँद में रहने वाली मानवता को निकाल कर प्रकाश में लाना चाहते थे। उनके ईश्वरीय साम्राज्य में सम्पत्ति, विशेषाधिकार, घमण्ड, ऊँच नीच का भेद, लालसा, फल प्राप्ति आदि के लिए कोई स्थान नहीं था, केवल प्रेम ही प्रेम व्याप्त था।

ईसाई धर्म का सैद्धान्तिक विकास—महात्मा ईसा के चार सुसमाचारों (Gospels) में उनके व्यक्तित्व और उपदेश तो मिलते हैं परन्तु ईसाई धर्म के सिद्धान्त बहुत कम प्रकट होते हैं। यह कार्य उनके अनुयायियों ने किया और ईसाई धर्म के मूल सिद्धान्तों को निर्धारित कर दिया। सेंट पॉल उनमें मुख्य थे। उनका प्रारम्भिक नाम सॉल (Saul) था। उन्होंने महात्मा ईसा के दर्शन नहीं किए थे और न उपदेश ही सुना था। पहले वे महात्मा ईसा के विरोधियों में भी थे; किन्तु बाद में वे अचानक ईसाई धर्म के अनुयायी बन गए और अपना नाम भी बदलकर पॉल कर लिया। वैसे तो प्रारम्भ में सभी धर्मों को कठिनाई एवं सन्देह का सामना करना पड़ा है परन्तु ईसाई धर्म को सन्देह का विशेष सामना करना पड़ा, क्योंकि राजाओं की प्रतिष्ठा और वर्ग भेद तथा सम्पत्ति जैसी संस्थाओं का सम्पूर्ण महत्त्व ही यह मिटाना चाहता था। इसलिए पूंजीपतियों ने इसे 'भ्रष्ट धर्म' (Seditious) कहा और इसके गुणों पर कोई ध्यान नहीं दिया। परन्तु सेंटपाल के अथक परिश्रम और अपूर्व योग्यता से ईसाई धर्म लोकप्रिय बनता चला गया।

ईसाई धर्म की देन—सार्वजनिक ईश्वरीय पितृत्व, मानव बंधुत्व आदि सिद्धान्तों के अतिरिक्त प्रत्येक मानव को भगवान का स्वरूप समझने की प्रवृत्ति का सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में विशेष महत्त्व है। विश्व में मानव की प्रतिष्ठा स्थापित करने का गौरवपूर्ण उदाहरण है। कुछ विरोधी यह कहते हैं कि सेंटपाल ने यह प्रतिपादित किया था कि दासों को आज्ञापालक होना चाहिए। परन्तु यह सच है कि महात्मा ईसा इस स्थिति के विरुद्ध थे कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को अपना सेवक बनाए। प्रथम दो शताब्दियों में यह धर्म समस्त रोम साम्राज्य में फैल गया था और उसके बाद निरन्तर लाखों व्यक्तियों का धर्म परिवर्त्तन कराते हुए फैलता रहा। आज भी इस धर्म के पादरी लोग अपना समस्त जीवन अर्पित करते हुए मानव की सेवा में लगे रहते हैं। चिकित्सालय, पाठशालाएँ और अन्य ऐसी संस्थाओं का आज विश्व में जाल सा बिछा हुआ है और इनके पास अपार धनराशि भी है। सम्भवतः आज विश्व का सबसे अधिक प्रचारित, संगठित और उन्नत धर्म माना जाता है। भारतवर्ष में इस धर्म ने सामाजिक समानता की स्थापना में बहुत

सहायता की है तथा शिक्षा प्रसार में भी योग दिया है ।

इस्लाम धर्म—इस धर्म का जन्म अरब में हुआ था । इसके संस्थापक मुहम्मद साहब थे । इनका जन्म मक्का के एक साधारण निर्धन परिवार में सन् ५७० ई० में हुआ था । इनका शैशव काल साधारण था और इनके चाचा के यहाँ व्यतीत हुआ था । लगभग चालीस वर्ष की उम्र तक इनका कोई विशेष प्रभाव स्थापित नहीं हुआ था । परन्तु मुहम्मद साहब ऐसे व्यक्ति हुए जिन्होंने अरब जगत को प्रकाशमान कर दिया । अपनी पच्चीस वर्ष की आयु में इन्होंने मक्का में चालीस वर्ष की एक सम्पन्न परिवार की विधवा महिला से विवाह किया था । धार्मिक विवेचनाओं में इन्हें प्रारम्भ से रुचि थी । मक्का उस समय प्रतिमा पूजक (जो इस्लाम धर्म के विरुद्ध है) नगर था और विशेष तौर पर एक श्याम प्रस्तर (काबा) की पूजा होती थी, जो समस्त अरब में बहुत प्रसिद्ध था । यह तीर्थ यात्रा का भी केन्द्र था परन्तु वहाँ यहूदी भी बहुत रहते थे । अरब के दक्षिण भाग में यहूदी धर्म ही प्रचलित था सीरिया में कुछ गिरिजाघर भी थे । अरब की स्थिति सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा आर्थिक दृष्टि से दयनीय थी अतः मुहम्मद साहब ने इसे सुधारने का दृढ़ संकल्प किया ।

लगभग ४० वर्ष की अवस्था में मुहम्मद साहब को ईश्वरीय प्रेरणा मिली और वे अपने आपको ईश्वर का अवतार (खुदा का पैगम्बर) कहने लगे । सर्वप्रथम उन्होंने अपनी धर्मपत्नी से ही कहा कि "अल्लाह एक है और मुहम्मद उसका पैगम्बर है तथा अच्छाई का फल अच्छा और बुराई का फल बुरा होता है ।" ये विचार यहूदी और ईसाई धर्म से प्रभावित थे । उन्होंने अपने समर्थकों का एक समूह बनाया और उसी नगर में मूर्तिपूजा का खण्डन आरम्भ कर दिया । इसके कारण वे वहाँ के नगरवासियों को खटकने लगे, क्योंकि काबा में तीर्थयात्रा के कारण ही वह सब वैभव और सम्पन्नता थी । परन्तु वे अपने विश्वासों में दृढ़ और उपदेश देने में साहसी बनते गए और घोषणा की कि मैं खुदा का पैगम्बर हूँ तथा धर्म को शुद्ध बनाने का कार्य मुझे सौंपा गया है । उन्होंने कुछ पंक्तियों की रचना की और कहा कि यह भगवान के दूत द्वारा मेरे पास भेजी गई हैं । ज्यों-ज्यों उनके उपदेशों का जोर बढ़ा त्यों-त्यों विरोध भी बढ़ता गया और अन्त में उनकी हत्या का षड्यन्त्र रचा गया । परन्तु वे अपने शिष्य और अनुयायी श्री अबू बक्र के साथ वहाँ से बच निकले और मदीना आगए । मदीना में आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने के लिए उन्होंने कारवाँ लूटना आरम्भ कर दिया । इस कार्य के लिए उन्हें दण्ड देने की व्यवस्था भी की गई (सन् ६२६ ई०) परन्तु सफलता नहीं मिली । फिर मुहम्मद साहब ने मक्का पर भी आक्रमण शुरू कर दिया और लगभग दस वर्षों में पचास आक्रमण किए । तत्पश्चात् दोनों में सन्धि हो गई । इसके फलस्वरूप मक्का में एकेश्वरवाद की स्थापना हो गई । काले पत्थर के अतिरिक्त काबे की अन्य सारी मूर्तियाँ आक्रमणों के समय मुहम्मद साहब ने तोड़ डाली थीं । सन् ६२९ ई० में पुनः मक्का आ गए और एक वर्ष बाद अपने धर्म दूत हिरेक्लियस, टाइसुंग ((Tai-tsung) का वध

तथा अन्य सब सम्राटों के पास धर्म प्रचार के लिए भेजे थे। तत्पश्चात् अपनी मृत्यु के समय सन् ६३२ ई० तक लगभग चार वर्ष में उन्होंने सम्पूर्ण अरब में अपना अधिकार जमा लिया था। उन्होंने कई विवाह किये (इस्लाम में चार विवाह तक की आज्ञा है, इन्होंने दस विवाह किये)। ऐसा प्रतीत होता है कि वे बहुत घमण्डी, लोभी, चालाक आत्म-कपटी तथा बहुत सच्चे धर्मोन्मत्त व्यक्ति थे।[1] उन्होंने आदेश और व्याख्याओं की एक पुस्तक लिखवाई जिसे 'कुरान' कहते हैं। उनका कहना था कि यह ईश्वरीय आज्ञा है, परन्तु उसके साहित्य अथवा दर्शन से ऐसा विश्वास नहीं होता।

इस्लाम के सिद्धान्त—इस धर्म के सिद्धान्त 'कुरान' में संग्रहीत हैं। इसमें ११४ अध्याय हैं जिनमें धर्म, समाज, नीति आदि सभी विषयों पर नियम हैं। इसे अत्यन्त पवित्र माना जाता है। उनकी मुख्य मुख्य शिक्षाएँ इस प्रकार हैं:—(१) अल्लाह एक है तथा मुहम्मद उसका पैगम्बर है। (२) प्रत्येक मुसलमान के चार कर्त्तव्य हैं, नमाज पढ़ना, खैरात करना, रमजान मास में रोजे रखना तथा मक्का का तीर्थ (हज्ज) करना। (३) प्रत्येक मुसलमान को दिन में पांच बार नमाज पढ़ना चाहिए और शुक्रवार (जुम्मा) के दिन तो अवश्य ही। (४) परस्पर बन्धुत्व की भावना तथा अल्लाह में अटूट विश्वास रखना चाहिए ये दोनों मूल तत्व हैं।

मुहम्मद साहब की मृत्यु के बाद इस धर्म का विभाजन हो गया—एक शिया और दूसरा सुन्नी कहलाया। यह केवल राजनैतिक भेद था। आज ईरान के अतिरिक्त अन्य देशों में अधिकतर सुन्नी हैं। बाद में इस धर्म में रहस्यवाद भी चल पड़ा और वे अपने को सूफी कहने लगे। यह भी कहा जाता है कि इस धर्म का वास्तविक संस्थापक मुहम्मद साहब का मित्र अबू बक्र था। यदि मुहम्मद साहब प्राचीन इस्लाम के मस्तिष्क और कल्पना थे तो श्री बक्र उसकी आत्मा और वाणी। जब मुहम्मद साहब विचलित होते थे, श्री बक्र ही उन्हें संभालते थे। उनके बाद श्री बक्र ही उनके उत्तराधिकारी खलीफा बने। इस प्रकार मुस्लिम धर्म की संक्षिप्त गाथा है।

विभिन्न धर्मों का पारस्परिक सम्बन्ध—उपरोक्त वर्णन से कुछ कुछ आभास होता है कि सब धर्मों का मूल उत्पादन भारतीय धर्म से हुआ है। बौद्ध धर्म और जैन धर्म के अतिरिक्त इस्लाम तथा ईसाई धर्म भी भारतीय धर्म से सम्बन्धित हैं। हजारों वर्ष प्राचीन मोहनजोदड़ो की सभ्यता मानी गई है, किन्तु उससे भी पूर्व दक्षिण अमेरिका में हिन्दू धर्म का प्रचार था यह स्वीकार किया जाता है। एशिया के प्रायः सभी धर्म अपना आध्यात्मिक स्रोत हिन्दू धर्म को ही स्वीकार करते हैं। योगिक साधना तथा आन्तरिक पूजा का विश्लेषण सर्वप्रथम भारत में ही हुआ था। इसके पश्चात् सब धर्मों को सूक्ष्म भाव से विचार करने की शिक्षा मिली। इस प्रकार जिन आध्यात्मिक तत्वों पर हिन्दू धर्म आधारित हुआ वे सब अन्य धर्मों के भी

---

१. एच० जी० वेल्स—ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ दी वर्ल्ड, पृ० १७७।

अनिवार्य अंग बन गये। ये तत्व सार्वभौमिक थे। बौद्ध धर्म इस क्षेत्र में और भी आगे रहा। प्रत्येक समाज और स्थिति के लिए यह धर्म अनुकूल हुआ। कोई सामाजिक प्रतिबन्ध नहीं थोपे। यद्यपि इस्लाम और ईसाई धर्म अपने मत का प्रचार करना प्रमुख कार्य समझते हैं, तथापि एकेश्वरवाद का सिद्धान्त हिन्दू धर्म के प्रमुख सिद्धान्तों में से ही एक है। ऊपर से ये धर्म एक सम्प्रदाय के मित्र तथा शेष सम्प्रदायों के शत्रु हैं, परन्तु वास्तव में यह साम्प्रदायिक रूप धीरे धीरे कम प्रभावशाली हुआ और केवल सार्वभौमिक रूप के सहारे रह गया जहाँ मोक्ष की प्राप्ति ईसाई धर्म के द्वारा ही संभव मानी जाने लगी। फिर भी इन धर्मों में अनुदारता का दोष रहा अवश्य। यह सच है कि धर्म ही आगे विकसित होकर विज्ञान एवं बुद्धिवाद का रूप धारण कर लेता है। इस दृष्टि से हिन्दू धर्म पूर्ण रूपेण वैज्ञानिक है। जिस तरह विज्ञान के क्षेत्र में प्रत्येक प्रयोग के पीछे एक सिद्धान्त रहता है उसी तरह हिन्दू धर्म की पृष्ठ भूमि में सदा दार्शनिक सिद्धान्त रहे हैं। इस दृष्टि से सब धर्मों में तात्त्विक एकता के दर्शन होते हैं। हिन्दू धर्म, बुद्ध धर्म और जैन धर्म सब यही कहते हैं कि सत्य अथवा ईश्वर का साक्षात्कार करना सभी के लिए संभव है। कुछ सम्प्रदाय फिर भी हिन्दू धर्म में ऐसे हैं जहाँ ईश्वर का साक्षात्कार केवल ऐतिहासिक पुरुषों के लिए संभव मानते हैं और ऐसे पुरुष गुरू के रूप में स्वीकार किए जाते हैं। मोक्ष प्राप्ति गुरू की कृपा के द्वारा ही संभव मानी जाती है। ऐसे सम्प्रदाय इस्लाम और ईसाई धर्म की समता में रक्खे जा सकते हैं।

बुद्ध धर्म तथा जैन धर्म तो हिन्दू धर्म में ही सम्मिलित किए जाते हैं। प्रारम्भ में बुद्ध तथा महावीर को हिन्दू शब्द का पता नहीं था। वैदिक तथा ब्राह्मण धर्म से वे पूर्णतया परिचित थे और उनका विरोध भी करते थे परन्तु साथ ही अपने धर्मों को वे आर्य धर्म भी कहते थे। इसलिए ये तीनों धर्म, ब्राह्मण धर्म, बुद्ध धर्म तथा जैन धर्म, आर्य धर्म के ही अंग बन गए और घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हो गए। वास्तव में धर्म आन्तरिक शक्ति की खोज का नाम है और आन्तरिक तत्व ही धर्म का सार है। यह सब धर्म स्वीकार करते हैं। इसी सत्य की स्थापना के कारण प्राचीन युग का प्रत्येक मानव हिन्दू था।

वेदान्त—भारतीय अध्यात्म शास्त्र का मुकुटमणि माना जाता है। वेदान्त का मूल स्रोत उपनिषदों को माना गया है। वेदों के गूढ़ रहस्यमय सिद्धान्तों का समर्थक होने के कारण ही इसे वेदान्त (वेद का अन्त=सिद्धान्त) की संज्ञा दी गई है। वेदान्त के प्रसिद्ध भाष्यकारों में निम्नलिखित नाम उल्लेखनीय हैं—शंकर, रामानुज, जैमिनि, भास्कर, मध्व, निम्बार्क आदि। वेदान्त के मूल सिद्धान्त सरल हैं किन्तु समझने में कठिन हैं। वे ब्रह्म की एकता तथा अनेकात्मक जगत की मायिकता में विश्वास करते हैं। इस तथ्य को समझने के लिए कुछ मूल सिद्धान्तों का ज्ञान अनिवार्य समझते हैं जैसे आत्मा के अस्तित्व के विषय में शंका करने की तनिक भी जगह नहीं है। आत्मा ज्ञान रूप है और ज्ञाता भी है। ज्ञाता वस्तुतः ज्ञान से पृथक् नहीं होता। ये दोनों भिन्न-भिन्न वस्तु नहीं हैं (आत्मा आत्मानं जानाति—

आत्मा-आत्मा को जानता है)। दूसरा, दृष्टि दो प्रकार की होती है—नेत्र की दृष्टि जो अनित्य है तथा आत्म दृष्टि जो नित्य होती है। देश काल की उपाधि द्वैत सत्ता को सिद्ध करती है परन्तु यह काल्पनिक है। निर्विकार तथा निरुपाधि सत्ता का नाम 'ब्रह्म' है और वही जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण है। परमेश्वर की बीज शक्ति का नाम 'माया' है। अन्तकरणावच्छिन्न चैतन्य को 'जीव' कहते हैं। जीव अपने स्वरूप के अज्ञान के कारण ही विश्व में अनेक कष्ट भोगता हुआ विचरण करता है। यह वेदान्त का संक्षिप्त वर्णन है। आचार्य शंकर इसके प्रमुख प्रतिपादक हैं। उन्होंने 'कर्म' को प्रधानता दी है और फलकामनाहीन (निष्काम) कर्म का महत्व बताया है। गीता का तत्व "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" इसी का प्रतिबिम्ब है। इस प्रकार वेदान्त अत्यन्त प्राचीन एवं व्यावहारिक धर्म के रूप में स्वीकार किया गया है और आचार्य शंकर ने इसकी स्थापना में सर्वस्व अर्पित किया था। इसी लिए उन्हें भगवान शंकर का अवतार माना जाता है।

सांख्य दर्शन—इस दर्शन में "संख्या" का नितान्त मूलभूत सिद्धान्त होने के कारण इसे "सांख्य" कहा गया है। यह भी बहुत प्राचीन दर्शन है। इसका स्रोत भी उपनिषद हैं। त्रिगुणात्मक सिद्धान्त (सत, रज और तम) सांख्य का प्राचीन सिद्धान्त है। इसके अनुसार जगत की सृष्टि में ये तीन ही रूप कारणभूत हैं, ये ही सत्य हैं। जगत केवल नाम रूपात्मक होने से विकार मात्र है। प्रकृति एक है, अजा—उत्पन्न न होने वाली। ईश्वर प्रकृति, क्षेत्रज्ञ या जीवों का तथा गुणों का अधिपति है। प्रकृति ईश्वर की माया शक्ति है तथा प्रकृति का अधिपति महेश्वर मायी कहलाता है। इस दर्शन के प्रमुख समर्थकों एवं प्रतिपादकों में निम्न आचार्यो के नाम सम्मिलित हैं—कपिल, आसुरि, पञ्चशिख, विंध्यवासी, विज्ञान भिक्षु आदि। सांख्य दर्शन में तत्वों की मीमांसानुसार २५ तत्व माने गए हैं जिनका वर्गीकरण चार प्रकार से किया जाता है :—

(१) **प्रकृति**—ऐसा तत्व जो सबका कारण तो होता है किन्तु स्वयं किसी का कार्य नहीं होता (संख्या १)।

(२) **विकृति**—कुछ तत्व कार्य ही होते हैं—स्वयं किसी से उत्पन्न होते हैं किन्तु स्वयं किसी अन्य को उत्पन्न नहीं करते (संख्या १६)।

(३) **प्रकृति-विकृति**—कुछ तत्व कार्य तथा कारण दोनों होते हैं—उनमें कुछ तत्वों से उत्पन्न भी होते हैं और अन्य तत्वों के उत्पादक भी होते हैं (संख्या ७)।

(४) **न प्रकृति-न विकृति**—कोई तत्व कार्य तथा कारण दोनों ही सम्बन्धों से शून्य होता है (पुरुष संख्या १)।

सांख्य का एक विलक्षण सिद्धान्त है जिसे 'कार्य कारण सिद्धान्त' कहते हैं। तदनुसार उत्पत्ति से पहले भी कार्य कारण में अव्यक्त रूप से उपस्थित रहता है। इसलिए कार्य तथा कारण में वस्तुतः अभिन्नता है। इसे परिणामवाद भी कहा जाता है। सांख्य दर्शन वास्तव में द्वैतवाद का समर्थक है। उसकी दृष्टि में प्रकृति और पुरुष दोनों मूल तत्व हैं जिनके परस्पर सम्बन्ध से इस जगत का आविर्भाव होता

है। प्रकृति जड़ है तथा एक है और पुरुष चेतन है और अनेक है। इस जगत के समस्त पदार्थ—मन, शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदि सीमित तथा अस्वतन्त्र होने के कारण कार्य रूप हैं। इनकी उत्पत्ति किसी न किसी मूलतत्व से हुई है। इनके मतानुसार जगत् का स्वरूप सुख-दुख मोहात्मक है तथा प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही विश्व की सृष्टि होती है। प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द तीन प्रमाण सांख्य में स्वीकार किए गए हैं। सत्य और अहिंसा सांख्य दार्शनिकों के कर्त्तव्य शास्त्र का मूलाधार है। मुक्ति इन्होंने दो प्रकार की मानी है—जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति। इसके आचार्यों का विश्वास है कि जगत की रचना तथा कर्म सिद्धान्त के लिए ईश्वर की सत्ता स्वीकार करना आवश्यक नहीं हैं।

इस प्रकार सांख्य ने चैतन्य की सत्ता पुरुष रूप में स्वीकृत की है और प्रकृति को साथ लेकर केवल दो ही मौलिक तत्व माने हैं। महर्षि कपिल ने अपनी सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा इस दर्शन को बहुत ऊँचा उठाया है। इसके बाद वेदान्त ने उसे ग्रहण करते हुए पूर्णता प्रदान की है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. निम्नलिखित में से किसी एक पर परिचयात्मक निबन्ध लिखिए :—
हिन्दू धर्म, बुद्ध धर्म, जैन धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म।

२. वेदान्त और सांख्य पर विवेचनात्मक टिप्पणियां लिखिए।

३. "भारतवर्ष के प्राचीन सभी धर्मों में एकता है"। इस कथन की पुष्टि करते हुए अपने विचार व्यक्त कीजिए।

४. निम्न में से किन्हीं तीन पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए :—
कपिल, शंकर, मुहम्मद, द्वैताद्वैत, माधव, निम्बार्क, विन्ध्यवासी।

छठा अध्याय

साहित्य के मूल सिद्धान्त

प्रस्तावना—आज का मानव समाज धन, ऐश्वर्य एवं शक्ति का पुजारी बन गया है। व्यापार ने मनुष्य को धन-लोलुप तथा राजनीति ने उसे वैभव प्रिय बना दिया है। इसीलिए धन एवं ऐश्वर्य की खोज में मानव अन्धा एवं पागल होकर देश विदेश का भ्रमण करता है और इसी मृगतृष्णा में युद्ध तथा विद्रोह की अग्नि भड़काता जाता है। मनुष्य की सारी मानसिक एवं शारीरिक शक्ति इन्हीं दोनों वस्तुओं की प्राप्ति में लगी हुई हैं, इसलिये मानव हृदय हीन बनता जा रहा है, इस हृदयहीन मानव को पुनर्जीवन देने के लिये साहित्य का सृजन होता है। जिसमें प्रत्येक सहृदय मानव के अन्तस्थल को स्पर्श करने की क्षमता होती है। वैसे मानव केवल धन या रोटी के बल पर जीवित भी नहीं रह सकता। उसके शरीर को भोजन चाहिये, परन्तु शरीर उसका केवल आधा भाग है। उसके हृदय और मस्तिष्क का पोषण भी उतना ही आवश्यक है। इनके पोषण का कार्य साहित्य द्वारा सम्पन्न होता है।

साहित्य—"सहितस्य भावः साहित्यं" जिसमें सहित का भाव हो, उसे साहित्य कहते हैं। अर्थात् जो हमारे हितकारी भाव हैं, वे ही साहित्य हैं। कवीन्द्र रविन्द्र के शब्दों में साहित्य की सुन्दर व्याख्या हुई है। वे कहते हैं—"सहित शब्द से साहित्य शब्द की उत्पत्ति है, अतएव धातुगत अर्थ करने पर साहित्य शब्द में एक मिलन का भाव दृष्टिगत होता है, वह केवल भाव का भाव के साथ, भाषा का भाषा के साथ, ग्रन्थ का ग्रन्थ के साथ मिलन है, यह नहीं, वरन् वह बतलाता है कि मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के सहित निकट का, अत्यन्त अन्तरंग योगसाधन साहित्य है, यह और किसी के द्वारा सम्भव नहीं। जिस देश में साहित्य का अभाव है, उस देश के लोग परस्पर सजीव बन्धन से बँधे नहीं, विछिन्न होते हैं।" अतः साहित्य शब्द बहुत व्यापक है। वस्तुतः साहित्य समाज का जीवन एवं समाज का दर्पण है तथा समाज के उत्थान एवं पतन का साधन है। साहित्य के उन्नत होने से समाज उन्नत एवं साहित्य के पतन से समाज का पतन होता है। साहित्य ऐसा आलोक है जो समाज को अन्धकार से रहित कर उसके मुख को उज्ज्वल बनाता हुआ ज्योतिमय नेत्र प्रदान करता है। वह साहित्य साहित्य नहीं है जिससे समाज का जीवन चेतनाशील न बने, हृदय में देश प्रेम का संचार न हो। यह कार्य गद्य और पद्य साहित्य की दोनों प्रमुख शाखाओं द्वारा संपादित होता है।

साहित्य की आवश्यकता—विचारपूर्वक देखा जाय तो जीवन में आनन्द प्राप्ति के अनेक साधन उपलब्ध हैं। खेल-कूद, भ्रमण आदि कुछ ऐसे ही प्रकार हैं, परन्तु जब शरीर साथ न दे और चिन्ताओं का समूह निरन्तर बढ़ता जाय, असफल-

ताओं से जीवन भारमय प्रतीत हो, उस समय साहित्य, और विशेष तौर पर काव्य हमारे जीवन को फिर प्रफुल्लित बना देता है। दुःख तथा शोक, विरह तथा वेदना, भय तथा मृत्यु, रोग तथा निराशा, कष्ट तथा कठिनाइयां जब अपना विकराल मुंह खोलकर सम्मुख आते हैं तो हम हताश हो जाते हैं। ऐसे अवसर को सुखमय बना देने की क्षमता, दुःख में सान्त्वना देने का बल केवल साहित्य में है। कवि एवं साहित्यकार ऐसे ही सुखद साहित्य का सृजन करते हैं। परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि हमारे सुखी जीवन में साहित्य का उपयोग नहीं है। सुखी जीवन में भी साहित्य उतना ही उपयोगी रहता है। वास्तव में साहित्य हमारे अवकाश की शान्ति तथा व्यस्त जीवन की प्रफुल्लता का स्रोत है।

भारतीय साहित्य का विकास—भारतीय साहित्य का आरम्भिक रूप वेदों में उपलब्ध होता है। **वैदिक साहित्य** की अनेक स्थितियाँ हैं—संहितायें, ब्राह्मण ग्रंथ, आरण्यक, उपनिषद, वेदांत, दर्शनशास्त्र और अर्थशास्त्र इनमें ब्राह्मण ग्रन्थ, वेदांग और दर्शनादि सूत्र ग्रंथ गद्य में हैं। प्रायः धर्मशास्त्र है तो पद्य में किन्तु उनमें काव्य तत्त्व का अभाव है। इसका कारण यह था कि इस साहित्य में विषय प्रधान और धार्मिक है। उसमें भाव पक्ष और लौकिकता का अभाव है। इसलिए वैदिक साहित्य से कोई काव्यशैली विकसित होकर उन्नत नहीं हुई। वैदिक साहित्य के बाद **संस्कृत साहित्य** का युग आरम्भ होता है। वाल्मीकि कृत रामायण इस युग का प्रथम महा-काव्य है। इस युग में अनेक महाकवि हुए और अनेक महाकाव्यों का सृजन हुआ। इस समय काव्य का अधिक महत्व रहा। इसके पश्चात् **प्राकृत साहित्य** का विकास हुआ। पाली से कथा वर्णन आदि का विकास हुआ परन्तु उसमें गद्य साहित्य प्रधान होने के कारण प्रभाव सीमित रहा। प्राकृत में पद्य साहित्य की प्रधानता होने के कारण विकास शीघ्रता से हुआ और प्रभावशाली भी रहा। तत्पश्चात् **अपभ्रंश साहित्य** प्रकट हुआ। जैन भंडारों के ग्रन्थ इसी श्रेणी में आते हैं। इस समय तक यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य से आरम्भ करके क्रमशः काव्य का रूप और आकार बढ़ता रहा है, और गद्य का घटता रहा है और अपभ्रंश तक आते आते काव्य ही काव्य उपलब्ध होता है। इसके अन्तर्गत सिद्ध साहित्य तथा नाथ साहित्य का प्रमुख स्थान रहा है। १९वीं शताब्दी के अन्त तक यह विकास चलता रहा। आधुनिक हिन्दी साहित्य का आरंभ वीर काव्य से होकर धार्मिक काव्य, शृंगारिक काव्य, स्वच्छन्द कविता आदि के पश्चात् छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, प्रतीकवाद, पलायनवाद तथा प्रयोगवाद आदि की ओर बढ़ता जा रहा है।

साहित्यिक सिद्धान्त—साहित्य, संगीत एवं कला का मानव जीवन से गहरा सम्बन्ध है। वैसे तो प्राणीमात्र में अपने अनुभवों के अभिव्यक्ति की उत्कट इच्छा होती है परन्तु साहित्यकारों में उनकी सूक्ष्म दृष्टि के कारण यह इच्छा और भी बलवती होती है और साहित्य, गद्य चाहे पद्य, के माध्यम से वे अपने अनुभव साधारण जनता तक पहुंचा देते हैं। इस साहित्य में स्थायी आकर्षण तथा शाश्वत आनन्ददायिनी शक्ति होती है। वास्तव में कला की भाँति साहित्य का अस्तित्व ही जीवन के लिए

है। विशेषतः काव्य जीवन से ही आविर्भूत है, इसकी सत्ता जीवन से ही है और जीवन ही के लिए उसका प्रकाश है। उत्तम साहित्य के लिए कुछ विशेषतायें अनिवार्य हैं जिनके कारण उसकी लोकप्रियता एवं महत्ता सदैव बनी रह सकती है। अनेक ऐसी विशेषताओं में से कुछेक निम्न हैं :—

(१) **सार्वभौम मानव अनुभूतियां**—इनका समावेश साहित्य में हो जाने से साहित्य अमरत्व प्राप्त कर लेता है क्योंकि मानव मूल्य अधिकांश समय और स्थिति के साथ शीघ्र परिवर्तित नहीं होते। इसलिए ऐसे अनुभव सदैव नवीन और जीवित प्रतीत होते हैं तथा पाठकों को आत्मानुभूति द्वारा आनन्द प्राप्त होता है। जैसे कालीदास का मेघदूत, शेक्सपियर के नाटक, तुलसी और सूर के भजन और गीत आज भी वही आनन्द प्रदान करते हैं जो प्राचीन काल में करते थे। इसका कारण यही है कि मानव अनुभूतियाँ उसी कोटि की हैं जो सदैव, सब परिस्थितियों में सदा एक सी और महत्वपूर्ण रहती हैं।

(२) **काव्य और छन्द**—काव्य प्रत्येक साहित्य का विशेष अंग होता है और छन्द के साथ इसका गहरा सम्बन्ध है। फिर भी छन्दहीन कवितायें होती हैं जिन्हें कुछ लोग गद्य-काव्य की संज्ञा देते हैं। साथ ही छन्दमय काव्य को पद्य भी कहते हैं। वास्तव में गद्य और पद्य में विरोध नहीं है। श्रेष्ठ कलाकार गद्य में भी काव्य की आत्मा रख सकता है। इसलिए काव्य रूप पर ही निर्भर नहीं होता वरन् आन्तरिक लक्षणों ही पर निर्भर होता है जिसमें कल्पना की मात्रा विशेष होती है। इसीलिए गद्य में भी कल्पना का आनन्द पर्याप्त मात्रा में होने पर वह भी गद्य काव्य कहलाता है। साथ ही पद्य में कल्पना का अभाव हो तो वह भी केवल छन्दपूर्ण पद्य मात्र रह जाता है जैसे वैद्यक, ज्योतिष आदि की पुस्तकें। इस प्रकार साहित्य में कल्पना का स्थान बहुत महत्वपूर्ण माना गया है। काव्य रचना में संगीत की मात्रा अनिवार्य है और इस संगीत का प्रकाश छन्द द्वारा सुविधापूर्वक हो जाता है। छन्द काव्य सुन्दरी का आकर्षक आभूषण है इससे उसके सौंदर्य में चार चाँद लग जाते हैं। इसलिए प्राचीन एवं अर्वाचीन साहित्यकारों और कवियों ने छन्द और काव्य में आत्मिक सम्बन्ध स्वीकार किया है। पद शब्द का प्रयोग भी इसी रूप में अनेक स्थानों पर विभिन्न अर्थों में किया जाता है। नृत्यकार का पद, कविता के पद, भजन आदि पद कहलाते हैं और इसीसे पद्य शब्द बना है।

(३) **साहित्य, रस तथा अलंकार**—किसी भी साहित्य को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए विभिन्न अलंकार और रसों का प्रयोग किया जाता है। परिस्थिति के अनुसार अनुकूल रस अपनी अमिट छाप जमाने में और अलंकार उसके प्रकाश को जाज्वल्यमान करने में सफल होते हैं। इसीलिए साहित्य में नवरस और उनकी महत्ता तथा विभिन्न प्रकार के अलंकारों का विश्लेषण करते हुए उन्हें साहित्य के अभिन्न अंग के रूप में स्वीकार किया गया है।

साहित्यिक समालोचना—वर्त्तमान समय में समालोचना साहित्य का अनिवार्य अंग बन गया है। अतः समालोचना का अर्थ एवं उसकी महत्ता को समझना

आवश्यक समझा जाता है। वाल्टर पोटर के शब्दों में समालोचना वास्तव में कला की व्याख्या करने की कला है। इसके द्वारा लेखक और पाठक के बीच की दूरी मिटाई जाती है। कार्लाइल के शब्दों में समालोचक एक प्रकार के दुभाषिए की श्रेणी में आता है और वह कृति के पूर्ण अर्थ और महत्त्व को ऐसे लोगों के लिए सुलभ बनाता है जो स्वयं समझने में असमर्थ होते हैं। व्यापक अर्थ में समालोचना वह प्रयास है जो सब प्रकार के साहित्य में उस उद्देश्य को प्रस्तुत करता है जो वास्तव में उसमें निहित है। इसका उद्देश्य सर्वोत्तम विचारों को व्यापक बनाना है जिससे वे समाज में जाकर गति और विकास को स्थान देकर रचनात्मक युग का श्रीगणेश करते हैं। एक फ्रांसीसी लेखक (Anatole France) के मतानुसार तो अच्छा समालोचक ही वही है जो अपनी आत्मानुभूति का उत्तम ढंग से वर्णन करता है।

समालोचना के मुख्य तत्त्व—कुछ विद्वान समालोचना को निर्णय (Judgment) भी कहते हैं। १८वीं शताब्दी तक समालोचक न्यायाधीश के रूप में ही समझा जाता था जो प्रत्येक सम्बन्धित कृति के सम्बन्ध में स्वीकृति, नियम एवं संहिता के अनुसार उसके गुण व दोष प्रकट करता था। यह विचार आज भी मान्य है। इसलिए गम्भीर निरीक्षण के बाद प्रशंसा करने वाला समालोचक अच्छा पथ-प्रदर्शक होता है। उसका प्रभाव धनात्मक एवं रचनात्मक होता है। स्वतन्त्रतापूर्वक की हुई कटु आलोचना सदैव हानिकारक होती है। वास्तव में समालोचना का मुख्य उद्देश्य है साहित्यिक मूल्यों के समझने में स्थायी सहायता पहुंचाना। इसीलिए आधुनिक युग में समालोचना साहित्य की महत्ता स्वीकार की गई है।

समालोचना, साहित्य से उसी प्रकार उत्पन्न होती है जैसे साहित्य जीवन से और यह उसी प्रकार क्रियाशील होती है साहित्य जिसका सृजन करता है। इसलिए साधारणतया यह समझा जा सकता है कि समालोचना का स्थान रचना से नीचे है, किन्तु यह भ्रम होगा, वास्तविकता नहीं। समालोचना में अन्तर्दृष्टि, कल्पना, ज्ञान, और भाषा का प्राधान्य इतना विशेष हो सकता है कि रचना से भी अधिक महत्त्व-पूर्ण हो जाय जिसके कारण यह उत्पन्न हो। विक्टोरिया युग के अनेक आलोचकों के प्रबन्ध पुस्तकों की अपेक्षा (आंग्ल साहित्य में) अधिक प्रचारित रहे और अध्ययन योग्य बने रहे। कुछ लोग आलोचना के विरुद्ध भी हैं। उनके मतानुसार समालोचना एक प्रकार के औपन्यासिक लेख और समालोचक निराश लेखक होते हैं जो केवल उपदेश दे सकते हैं, कर कुछ भी नहीं सकते। परन्तु यह दृष्टिकोण उचित नहीं है। जैसे बुद्धि सदैव ही परम्पराओं से अधिक दृढ़ सिद्ध हुई है उसी प्रकार साहित्य भी समालोचना की अपेक्षा अधिक दृढ़ सिद्ध हुआ है। किन्तु फिर भी साहित्य समालोचना का अनुगामी है।

समालोचक के गुण—स्थानाभाव के कारण यहाँ हम केवल संक्षेप में समालोचक के वांछनीय गुणों का उल्लेख मात्र करके सन्तोष करेंगे। साधारणतया समालोचक को अपने विषय का पारंगत एवं उस ओर स्वाभाविक झुकाव होना चाहिए। अपने स्तरों एवं मान्यताओं का उपासक हो किन्तु साथ ही नवीनताओं के स्वागत

के लिये प्रस्तुत रहना चाहिये। वह सूक्ष्म बुद्धि तथा चतुर हो। वह निष्पक्ष रहते हुए भी स्वतन्त्र उद्घोषणा करने की क्षमता से युक्त हो। उसका ज्ञान नवीनतम तथा पूर्ण होना चाहिये। उसे अन्य भाषाओं का ज्ञान होना चाहिये तथा पर्याप्त भ्रमण का अनुभव भी आवश्यक होता है। अपने विषय की तकनीकी से पूर्णरूपेण विज्ञ होना चाहिये। अन्त में, उसे इस क्षेत्र का दीर्घ अनुभव हो और प्राकृतिक झुकाव के साथ श्रम तथा अध्यवसाय सरीखे गुणों का समन्वय हो, यह भी आवश्यक है।

वर्त्तमान समय में साहित्य का कलेवर बहुत विकसित हो गया है। प्राचीन साहित्य, शिशु साहित्य, प्रौढ़ साहित्य, सिनेमा साहित्य, गल्प साहित्य आदि अनेक शाखायें प्रचलित हैं और दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। ऐसे अवसर पर समस्त साहित्य का अध्ययन न तो संभव है और न वांछनीय। अतः समालोचक का कार्य और भी अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण हो जाता है। अपनी रुचि की कृतियों का सृजन होने के पश्चात् सर्वप्रथम उनकी समालोचना पर ही दृष्टि जाती है। इसलिये यदि उचित समालोचना है तो लेखक के प्रति, पाठक के प्रति और समाज के प्रति सच्ची सेवा होती है किन्तु अपने कर्त्तव्यमार्ग से विचलित होकर यदि अनावश्यक स्तुति अथवा अनुचित निन्दा कर दी जाय तो इन सभी के साथ घोर अन्याय होता है। अतः इस विज्ञान के विकसित निरन्तर दौड़ संलग्न साहित्यिक विश्व में समालोचना एवं समालोचक का स्थान अभूतपूर्व एवं महत्व का बन गया है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. 'साहित्य' से आप क्या समझते हैं? इसकी मानव समाज में आवश्यकता है, इस कथन की पुष्टि कीजिए।

२. भारतीय साहित्य का विकास किस प्रकार हुआ? संक्षेप में लिखिए।

३. साहित्यिक सिद्धान्त क्या होते हैं, व्याख्या कीजिए।

४. समालोचना किसे कहते हैं? समझाइए और इसकी उपयोगिता पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

५. अच्छे समालोचक के अनिवार्य गुणों पर टिप्पणी लिखिए।

—: ० :—

भारतीय निधि

(HERITAGE OF INDIA)

सातवां अध्याय

भारतीय सभ्यता तथा आर्यों का आगमन

प्रस्तावना—आज भारतवर्ष संसार के प्राचीनतम सभ्य देशों की श्रेणी में बहुत ऊँचा स्थान रखता है। सन् १९२२ तक तो भारतवर्ष की सभ्यता केवल वैदिककाल तक ही स्वीकार की जाती थी किन्तु सिन्ध के लरकाना जिले में मोहनजोदड़ो तथा पंजाब के मॉण्टगुमरी जिले में हरप्पा स्थान पर खुदाई द्वारा प्राप्त अवशेषों से भारत की संस्कृति के प्राचीनतम होने का भान हुआ और अब भारतवर्ष सभ्यता के क्षेत्र में और भी अधिक प्राचीन सिद्ध हो गया। डाक्टर राधाकुमुद मुखर्जी तथा अंग्रेज विद्वान श्री वेक तथा श्री मार्शल इस विषय पर एकमत हैं कि भारतवर्ष की यह (सिंध की घाटी की) सभ्यता समस्त विश्व में प्राचीनतम तथा प्रारंभिक रही है। अन्य विद्वान लोग भी अब इस मत का समर्थन करते हैं। इस प्रकार प्राचीनकाल में भारतीय सभ्यता उन्नति की चरम सीमा पर रही है। मध्ययुग में संकीर्णता, अन्धविश्वास आदि दोषों के कारण फिर उसका पतन हुआ और लुप्त प्रायः सी हो गई। सौभाग्य से भारतवर्ष पुनः स्वतन्त्र हुआ है और अब हमारे देश की नवीन विकसित सभ्यता उत्तरोत्तर प्रगति की ओर अग्रसर हो रही है। इसकी आधुनिक प्रगति की प्रबल प्रेरणा निस्सन्देह हमारी प्राचीन सभ्यता से ही प्राप्त हो रही है।

विशेषताएँ—भारतीय सभ्यता में निहित अनेक गुण और विशेषताओं का विस्तारपूर्वक वर्णन करना यहाँ सम्भव नहीं है, किन्तु फिर भी मुख्य मुख्य विशेषताओं पर संक्षेप में विचार करना अनिवार्य भी है। प्रथम विशेषता यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उसमें समन्वय की भावना है। अपनी मौलिकता की रक्षा के साथ ही साथ इस सभ्यता में दूसरे तत्वों को धीरे-धीरे अपनाकर एकाकार हो जाने की क्षमता विद्यमान है। यही कारण है कि भारतवर्ष विश्व के समस्त धर्मों और सम्प्रदायों को अपने यहाँ स्थान दे सका है। दूसरी विशेषता है सहिष्णुता अर्थात् सहन करने की क्षमता। साधारणतया विश्व के दूसरे देशों और सम्प्रदायों में संकीर्णता की वृत्ति निहित रही है जिसके द्वारा स्वयं को उत्कृष्ट तथा अन्य दूसरों को हीन समझने की अथवा उनकी आलोचना करने की प्रवृत्तियाँ चलती रही है। किन्तु भारतीय सभ्यता अपने वास्तविक रूप का ज्ञान धारण किए हुए दूसरों का समान सम्मान करने में सदैव आगे रही है। इसलिए दूसरों का पतन देखकर नहीं वरन् प्रगति देखकर प्रसन्न होने की प्रथा का अनुसरण करती रही है। तीसरी विशेषता है धार्मिक आधार। अर्थात् भारतीय जीवन में प्रत्येक कर्त्तव्य केवल इसलिए ही महत्व नहीं

रखता कि वह यथार्थ अथवा अनिवार्य है वरन् इसलिए भी कि वह एक आदर्श है। और ऐसे समस्त आदर्शों का आधार धर्म है जिसका महत्व आज बीसवीं सदी में भी कम नहीं कहा जा सकता। चौथी विशेषता है व्यापकता इसका क्षेत्र किसी सीमा में बँधा हुआ नहीं है। जीवन के समस्त क्षेत्र भारतीय सभ्यता की सीमाओं में सम्मिलित हैं। इसलिए यह कहकर नहीं बचा जा सकता कि यह व्यक्तिगत जीवन की बात है, अथवा पारिवारिक प्रश्न है अथवा राज्य के क्षेत्र का विषय है। इस प्रकार इन मुख्य विशेषताओं के कारण भारतीय सभ्यता विश्व की शाश्वत सभ्यताओं में प्रमुख स्थान रखती है।

सिन्धु घाटी की सभ्यता—यद्यपि पिछले अध्यायों में इस सभ्यता का पर्याप्त वर्णन किया जा चुका है किन्तु कुछ और ऐसी विशेषताएँ हैं जिनका यहाँ उल्लेख करना उपयुक्त जान पड़ता है। उदाहरणार्थ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस सभ्यता के निवासी कौन थे तथा कहाँ से आये थे? साधारणतया मोहनजोदड़ो और हरप्पा के अवशेषों के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि वहाँ के निवासी एक ही ढंग, जाति अथवा नस्ल के नहीं थे। वहाँ प्राप्त मानव अस्थियाँ यह प्रमाणित करती हैं कि वे लोग भिन्न-भिन्न जाति और स्थानों से आए हुए थे। इस विषय के पारंगत डा० गुहा और कर्नल स्यूअल का विचार है कि इन निवासियों में कम से कम तीन चार प्रकार की जाति के लोग थे। वे यह भी अनुमान करते हैं कि इन निवासियों का सम्बन्ध मेसोपोटानियाँ से अवश्य रहा होगा।

यह निस्सन्देह सत्य है कि इस सभ्यता का सम्बन्ध अन्य सभी मुख्य मुख्य सभ्यताओं से रहा था। जब तक हम इसे वैदिक काल तक सीमित समझते थे, विश्व की अन्य प्राचीनतम सभ्यताओं के समकक्ष इसे रखते ही नहीं थे, किन्तु अब प्राचीनतम सभ्यताओं की श्रेणी में आने के उपरान्त यह भी स्वतः सिद्ध हो जाता है कि मिस्र, ईरान आदि सभ्यताओं से भी यह सम्बन्धित थी। खुदाई से प्राप्त अवशेषों से यह पूर्णतया सिद्ध भी हो गया है। मुद्राएँ और ताबीज जिन पर चित्रात्मक अक्षर अंकित हैं, मेसोपोटानियाँ की सभ्यता से निकट सम्पर्क सिद्ध करते हैं। कुछ मुद्राओं पर वस्त्र के निशान हैं जिससे प्रकट होता है कि यहाँ वस्त्र अधिक उत्पन्न होता था, और मुख्य व्यवसाय भी यही था। सुमेरिया के साथ यह व्यापार अधिक होता था। इसीलिए उस सभ्यता से सम्बन्ध होना भी प्रकट होता है। वस्त्रों की उन्नति रूई की उपज पर निर्भर थी और रूई की उपज में मिस्र के साथ समानता और सम्पर्क प्रमाणित होता है। इस प्रकार सिंध घाटी की सभ्यता एकाकी नहीं थी बल्कि अपने आस पास की प्रसिद्ध सभी सभ्यताओं के साथ घुली मिली थी और अपना प्रभाव दूसरी सभ्यताओं पर पर्याप्त रूप में स्थापित था। यही कारण है कि वर्तमान समय में भारतवर्ष के स्वतन्त्र होने के पश्चात् विश्व के अन्य देशों से सम्पर्क स्थापित करना हमारे लिए सुगम रहा है।

आर्यों का आगमन—सर्वप्रथम भारतवर्ष में द्राविड़ लोग निवास करते थे। लगभग २००० ई० पू० खैबर की घाटी से भारत में ऐसे लोगों ने प्रवेश किया जो

डीलडौल में लम्बे, हृष्ट-पुष्ट, गौर वर्ण, लम्बी नाक वाले और साहसी वीर थे। ये लोग कहाँ से आये इसका पूरा-पूरा ज्ञान अभी तक भी नहीं है। विद्वानों के विचार इस विषय पर भिन्न-भिन्न हैं। डा० अविनाशचन्द्रदास के मतानुसार ये लोग सप्त सिंधु के निवासी थे। बाल गंगाधर तिलक ने माना है कि आर्य उत्तरी ध्रुव से भारत आये थे। डा० स्मिथ आर्यों का मूल स्थान मध्य एशिया को मानते हैं। यूरोपियन विद्वान मेक्समूलर भी इसी मत के समर्थक हैं। कुछ भारतीय विद्वान भारत को ही आर्यों का मूल निवास स्थान मानते हैं। फिर भी साधारण धारणा यही है कि आर्य बाहर से भारत में आए और आर्य कहलाये। 'आर्य' शब्द का अर्थ 'सभ्य' अथवा 'संस्कृत' समझा जाता है। कुछ लोग 'उच्च वंश' भी इसका अर्थ लगाते हैं। श्री दिनकर ने आर्य शब्द का अर्थ फुटनोट में 'घुमक्कड़' भी दिया है। ये लोग अपनी संस्कृति को 'आर्य संस्कृति' कहने लगे। इनके प्रवेश के समय भारत में रहने वाले द्राविड़ लोग धीरे-धीरे दक्षिण की ओर जाने लगे। आर्य लोगों का प्रवेश वास्तव में एक ही बार नहीं हुआ किन्तु धीरे धीरे कई झुण्डों में ये लोग आये।

आर्य संस्कृति का मूल स्रोत वेद माने जाते हैं। वेद शब्द 'विद्' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'जानना' अर्थात् ज्ञान प्राप्त करना। उत्तर भारत में बस जाने के बाद वेदों की रचना हुई। यह रचना काल भी विभिन्न विद्वानों द्वारा अलग अलग माना जाता है। श्री तिलक यह रचना काल ईसा से छः हजार वर्ष पूर्व और श्री अविनाशचन्द्रदास ईसा से लगभग २५ हजार वर्ष पूर्व का मानते हैं। भारतीय परम्पराओं के अनुसार वेद अनादि माने जाते हैं। कुछ भी हो वेद आर्य जाति का अत्यन्त प्राचीन साहित्य है और चारों वेदों में ऋग्वेद सबसे अधिक प्राचीन है। वेदों के कई भाग हैं जिनमें संहिता, ब्राह्मण आदि मुख्य है। कुछ विद्वानों की राय है कि इंगलैंड, ईरान, भारत और जर्मनी में आने वाले आर्यों का कोई सामान्य निवास स्थान रहा होगा क्योंकि इन स्थानों पर विकसित भाषाओं में अनेक शब्दों में बहुत गहरी समानता है जैसे 'पिता' के लिए संस्कृत में (भारत) 'पितृ', यूनानी में 'पेटर' या 'पेट्रिप्रार्क' और अंग्रेजी में (इंगलैंड) 'फादर' शब्द प्रयोग से आते हैं। इसी प्रकार माता के लिए भी समान ध्वनि वाले शब्द काम में आते हैं। इसीलिए कुछ विद्वान आर्यों का मूल निवास स्थान यूरोप को भी बताते हैं।

आर्यों का सामाजिक जीवन—मुख्य रूप से आर्य लोग पशुपालन और कृषि कार्य करते थे और भारत में आने पर भी यही व्यवसाय करते रहे। समाज का संगठन परिवार पर आधारित था। परिवार पितृ प्रधान होते थे। पिता ही परिवार का अध्यक्ष और सर्वेसर्वा होता था। संयुक्त परिवारों की प्रथा प्रचलित थी बहु विवाह प्रथा का रिवाज नही सा था, केवल राजवंशों में सूक्ष्म रूप में प्रचलित थी। परिवारों में भाई-बहिन के पवित्र सम्बन्ध माननीय थे। समाज में इसीलिए भाई बहिन और पिता पुत्री के विवाह सम्बन्ध का स्पष्ट निषेध था। दहेज आदि प्रथाएँ प्रचलित हो गई थीं। फिर भी स्त्री जाति का सम्मान अधिक था। अतिथि-सत्कार

गौरव का विषय माना जाता था। सती प्रथा प्रचलित नहीं थी। विवाह धार्मिक बन्धन समझा जाता था। विधवा विवाह चलता था। नियोग-प्रथा भी प्रचलित थी। तलाक असम्भव था। स्त्रियाँ जीवन भर नियन्त्रण में रहती थी। शैशवकाल में पिता के आधीन, यौवनकाल में पति के आधीन और वृद्धावस्था में पुत्र के आधीन रहने की व्यवस्था थी। स्त्रियाँ अध्ययन करती थीं। गार्गी आदि उसी समय की परम विदुषी महिलाओं में से हैं। सन्तानहीन लोग पुत्र गोद भी लेते थे। विवाह संबंधों के लिए चार गोत्र टालने का रिवाज इसी समय से चल चुका था। द्राविड़ों के सम्पर्क से जाति भेद भी उत्पन्न होने लगा। वैसे व्यवसायों के अनुसार आर्य लोग चार भागों में संगठित हो गए थे। अध्ययन और अध्यापन करने वाले ब्राह्मण देश की रक्षा करने वाले क्षत्रिय, कृषि, पशुपालन तथा व्यापार करने वाले वैश्य और तीनों की सेवा करने वाले शूद्र लोग कहलाने लगे थे। चौथी श्रेणी में साधारणतया द्राविड़ लोग थे। द्राविड़ों से सम्बन्ध रखने के आधार पर ही आर्य लोग ऊँच और नीच बनने लगे। अधिक सम्बन्ध रखने वाले नीच और कम सम्पर्क रखने वाले उच्च। इसीलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों में भी क्रमशः उच्चता की भावना जम गई। वास्तव में 'वर्ण' अर्थ रंग ही है। परन्तु बाद में व्यवहार द्वारा वर्ण का अर्थ 'वर्ग' और 'जाति' के रूप में समझ लिया गया जो स्वतन्त्र होने के पूर्व तक उग्र रूप में भारतवर्ष में रहा। आर्यों का भोजन साधारण होता था, त्यौहारों पर सुरा-पान भी किया जाता था। वस्त्र भी साधारण होते थे किन्तु आभूषणों से उन्हें विशेष स्नेह था। उनका जीवन संतोषी होता था। स्त्रियों का प्रिय मनोविनोद नृत्य एवं झूला था और पुरुषों का घुड़दौड़, शिकार तथा जुआ आदि। अन्त्येष्टि संस्कार के कई रूप प्रचलित थे जिनमें दाह-संस्कार, जल समाधि, भूमि समाधि और पशु भक्षण मुख्य थे, किन्तु प्रथम अग्नि-दाह अधिक प्रचलित था।

राजनैतिक व्यवस्था—तत्कालीन सभ्यता का केन्द्र उस समय का 'ग्राम' था। उसका अध्यक्ष 'ग्रामणी' कहलाता था। वह राज्य के प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य में ग्राम का प्रतिनिधित्व करता था। अनेक ग्रामों की एक समिति (Assembly) होती थी और प्रत्येक ग्राम का प्रतिनिधि उसका सदस्य होता था। इसे 'विश' अर्थात् प्रजा' भी कहते थे। इसके ऊपर वाला संगठन 'जन' कहलाता था जो संसद की भाँति होता था। इस प्रकार ग्राम, विश और जन के रूप में राज्य संगठित होता था। 'जन' या 'जनपद' का स्वामी राजा होता था। राजा को लोग प्रायः निर्वाचित करते थे किन्तु वंश परम्परागत राजाओं का भी प्रचलन था। राज्य के कार्य संचालन के लिए 'सभा' और 'समिति' नामक दो संस्थाएँ होती थीं। ये संस्थाएँ ही राजा का निर्वाचन, राजा को परामर्श देना, पद्च्युत करना, पुनः सिंहासनारूढ़ करना आदि कार्य करती थीं। पुरोहित राजा का प्रधान परामर्शदाता होता था। राजा स्वयं प्रजावत्सल होता था और समाज में बहुत सम्माननीय होता था राज्य सम्बन्धी प्रत्येक कार्य के लिए राजा ही उत्तरदायी समझा जाता था। प्रजा की रक्षा, शत्रु से युद्ध, शांतिकाल में धार्मिक कृत्य और त्यौहारों की व्यवस्था तथा अपराधियों के लिए दण्ड व्यवस्था का

भार उसी पर होता था। अग्नि, वरुण, वायु, सूर्य, चन्द्रमा आदि के अंशों से लेकर राजा के निर्माण की कल्पना इसी दृष्टि से की गई थी कि समय और स्थिति के अनुसार राजा को अपने कर्तव्य का पालन दृढ़तापूर्वक करना चाहिए।

आर्थिक व्यवस्था—आर्य अधिकांश कृषक थे और पशुपालन का व्यवसाय भी करते थे। कृषि में बैलों का प्रयोग होता था। गाय आदरणीय पशु मान लिया गया था। बकरी, भेड़, कुत्ते, और गधे भी उपयोगी मान लिए गये थे। बुद्धिमान होने के कारण आर्य लोग शीघ्र ही कृषि-पंडित बन गये थे। इसलिये सिंचाई करने लगे थे। गेहूँ, जौ, तिलहन और कपास की खेती भी करते थे और धीरे धीरे शिल्प कला की ओर भी आगे बढ़ रहे थे। मुद्रा का प्रचलन न होते हुए भी व्यापार की ओर अग्रसर हो रहे थे। विनिमय के लिए गाय और आभूषणों का प्रयोग होता था। खेती से सम्बन्धित लोहार, बढ़ई और कुम्हार के व्यवसाय भी विकसित हो गये थे। युद्धकला में भी निपुण थे। रथ की सवारी, बर्छी भाले का प्रयोग तथा कवच धारण करना ये जानते थे। पुरुष और स्त्रियाँ, बहुमूल्य धातुओं के संग्रह की दृष्टि से आभूषणों को बहुत धारण करते थे। शिक्षा का महत्व बहुत था और 'कण्ठे-विद्या' का सिद्धान्त व्यवहार में आता था। मौखिक शिक्षा की परम्परा थी। 'Simple living and high thinking' साधारण जीवन और उच्च विचार का सिद्धान्त वास्तव में कार्यान्वित होता था। धार्मिक शिक्षा पर अधिक बल दिया जाता था। गुरुकुल प्रथा विकसित हो रही थी इसीलिए गुरु-दक्षिणा भी प्रचलित हो रही थी। शिक्षा का माध्यम संस्कृत भाषा थी और गणित, व्याकरण, साहित्य आदि का प्राधान्य था। इस प्रकार समाज की आर्थिक व्यवस्था उत्तम थी।

धार्मिक जीवन—ये लोग प्रकृति के विभिन्न रूपों की पूजा करते थे। इनके देवताओं की संख्या ३३ थी। सूर्य, चन्द्र, यम, अग्नि, वरुण आदि मुख्य थे। पूजा में यज्ञ का स्थान प्रधान समझा जाता था। नदी और वृक्षों की पूजा इन्होंने द्राविड़ों से सीखी थी और मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदि भी उन्हीं से अपनाए थे। ईश्वर के अनेक रूपों में तो इनका विश्वास था किन्तु फिर भी एकेश्वरवाद में ही इनकी श्रद्धा अधिक थी। मृत्यु के पश्चात् जीवन क्या है ? इस पर उनका कोई स्पष्ट विचार नहीं था। मूर्ति पूजा प्रचलित नहीं थी और न वे लोग प्रतिमा में विश्वास करते थे। बलिदानों की प्रथा थी। गायत्री और सावित्री मन्त्रों का प्रयोग अधिक होता था। धीरे-धीरे उत्तर वैदिक काल में कुछ पतन आरम्भ हुआ और यज्ञ और कर्म-काण्डों का प्रचार बढ़ा। भूत-प्रेत, तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना आदि की प्रथायें चल पड़ीं।

आर्यों का प्रसार—आर्यों के समूह निरन्तर खैबर की घाटी से भारतवर्ष में आते रहे और संख्या निरन्तर बढ़ती गई जिसके फल स्वरूप गंगा और यमुना के मैदान तक इन्हें पहुँच जाना पड़ा और अन्त में पूर्व में बंगाल तक, दक्षिण में विन्ध्याचल तक इनका प्रसार हो गया और सम्पूर्ण उत्तर भारत पर आर्यों का आधिपत्य जम गया। इस कार्य में द्राविड़ लोग पीछे हटते गये किन्तु पूरी तरह सब लोग नहीं

जाते थे इसलिए द्राविड़ों से सम्पर्क हुआ और आर्य संस्कृति पर भी द्राविड़ों का प्रभाव पड़ा। आर्यों ने शुद्ध रहने की चेष्टा की और अनेक प्रकार के नियम बनाए। शूद्र स्त्रियों के साथ विवाह न किया जाय। द्राविड़ लोग काले, छोटा कद और कुरूप होते थे, किन्तु फिर भी सम्पर्क से वर्णों में हेल मेल बढ़ता ही गया और आज तो समस्त विश्व में ही वर्णसंकरता व्याप्त हो चुकी है। फिर भी आर्यों ने अपना प्रयास नहीं रोका। जाति-नियम कठोर बनाए। फलस्वरूप नई नई जातियाँ बनने लगी और आर्य जाति का प्रसार आशातीत गति के साथ समस्त भारत में व्याप्त हो गया।

आर्य संस्कृति का महत्व—क्रमशः विकसित होकर आर्य संस्कृति अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गई थी। राजनैतिक क्षेत्र में राजा का स्वरूप एक वास्तविक संवैधानिक शासक के रूप में विकसित हुआ। राज्यों के आकार बढ़े। बड़ी बड़ी सेनाओं की व्यवस्था की जाने लगी। सामन्त विकसित हुए। प्रजातंत्रात्मक भावनाओं के प्रतीक स्वरूप सभा और समितियाँ स्थापित हुईं। राज्याभिषेक के समय शासक महत्वपूर्ण शपथ ग्रहण करने लगा। 'मंत्रिपरिषद' जैसी संस्था की स्थापना हुई। न्याय और नियम का स्पष्ट स्वतंत्र अस्तित्व समझा जाने लगा। कर-सिद्धान्त और भूमि संबन्धी उत्कृष्ट नियमों को मान्यताएँ दी गईं और राजा नियमों के आधीन बना दिया गया। आर्थिक क्षेत्र में, गंगा यमुना के उर्वरा मैदानों के कारण आर्य निश्चिन्त बने रहे और समृद्धि की वृद्धि के साथ वस्त्र, आभूषण, भवन और विनोद के साधन भी विकसित होते गये। सात मंजिल तक के मकान भारतवर्ष में उस समय बनने लग गए थे। गणित विद्या की उन्नति भी आशातीत थी। ज्योतिष ज्ञान विकसित हो गया था। षड्दर्शन की उत्पत्ति इसी समय में हुई थी। आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध और जीव-ब्रह्म का विचार इसी समय प्रारम्भ हो गए थे। इस प्रकार लगभग ईसा से ६०० वर्ष पूर्व तक वैदिक कालीन सभ्यता एक उच्च कोटि की सभ्यता थी जो कई शताब्दियों तक फलती फूलती रही जिस पर वर्तमान भारत गर्व करता है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. सिंधु की घाटी की सभ्यता का वर्णन कीजिए।

२. आर्य कौन थे ? उनके सामाजिक राजनैतिक और आर्थिक जीवन का वर्णन कीजिये।

३. 'आर्य-संस्कृति' पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।

४. आर्य लोग कहाँ से, तथा कब आये ? इस प्रश्न पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

—: ० :—

आठवाँ अध्याय

वैदिक-काल की संस्थाएँ

प्रस्तावना—भारतीय सभ्यता और वैदिक सभ्यता मूलतः एक ही है। किन्तु उस समय की सभ्यता, जो विशेष रूप से वेदों से प्रभावित रही और पहले तथा बाद में बदल गई, वैदिक सभ्यता कहलाती है। मौलिक रूप से दोनों एक ही अर्थ में प्रयोग में आती हैं। इस सभ्यता का पर्याप्त वर्णन हम इससे पहले के अध्याय में कर चुके हैं और यह भी बताया जा चुका है कि द्राविड़ और आर्य सभ्यताओं का समन्वय किस प्रकार, कैसे हुआ। अब यहाँ केवल उन सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन करेंगे जो इस युग में विकसित और स्थापित हुईं। इनमें मुख्य रूप से वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था, संयुक्त परिवार प्रथा, जाति-प्रथा और अस्पृश्यता आदि हैं।

वर्ण-व्यवस्था—जैसा पहले कहा जा चुका है तत्कालीन समाज का संगठन वैज्ञानिक ढंग से करने के लिए नागरिकों ने स्वयं अपने व्यवसायों के अनुसार वर्ण-व्यवस्था की थी। यह समाज का हित ध्यान रखकर किया गया था। प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता और क्षमता के अनुसार इन व्यवसायों को अपनाता था। जन्मजात वर्ण-व्यवस्था नहीं थी। आर्य लोगों के आने से कुछ भेद उत्पन्न हुआ और आर्य और अनार्य का भेद स्वीकार किया जाने लगा और तब वर्ण अर्थात् 'रंग' व्यवस्था चल पड़ी। आर्य गौर वर्ण के हृष्ट-पुष्ट होते थे और अनार्य काले, कुरूप और छोटे कद के होते थे। अपने गौर वर्ण पर गर्व करने के कारण वे अपने को श्रेष्ठ समझते थे। शादी विवाह भी वे अपने ही वर्ण में करना चाहते थे और काले कलूटे लोगों को हीन समझते थे, साधारण कार्य कृषि, मजदूरी आदि अनार्यों से कराते थे। इसी आधार पर कार्य व्यवस्था स्थापित हुई और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के चार वर्ण स्वीकार कर लिये गए। इसकी पुष्टि वेदों की ऋचाओं द्वारा की गई कि ब्राह्मण सर्व श्रेष्ठ और फिर उसी क्रम से शेष तीनों वर्णों को निम्न स्तर का माना जाने लगा। अपौरुषेय वेदों ने यह प्रकट किया कि ब्राह्मण भगवान के मुख से, क्षत्रिय भुजा से, वैश्य जंघा से तथा शूद्र पैरों से उत्पन्न हुए हैं और इसीलिए ये अपनी उत्पत्ति के स्थान के अनुसार समाज में कर्त्तव्य भी करेंगे। वास्तव में यह समाज के कार्य और व्यवसाय विभाजन की व्यवस्था थी जिसमें नागरिक अपनी रुचि के अनुकूल चारों प्रकार के कार्य में से एक चुनकर जीवनयापन कर सकता था। जन्म से इस व्यवस्था का कोई सम्बन्ध नहीं था। इसी प्रकार परस्पर भोजन, पारिवारिक सम्बन्ध आदि पर भी कोई प्रतिबन्ध नहीं थे। परस्पर वर्णों के बीच कोई दीवार नहीं थी। परन्तु कालान्तर में वर्ण-व्यवस्था कर्म प्रधान न रहकर, जन्म प्रधान बन गई। ब्राह्मण-पुत्र वेदों से अनभिज्ञ रहकर भी ब्राह्मण ही बना रहने लगा। और क्षत्रिय-पुत्र शारीरिक

बल विहीन रहकर भी रक्षक ही बना रहने लगा। शूद्र का पुत्र अत्यन्त बुद्धिमान होते हुए भी सेवक ही बना रहने लगा। इस प्रकार रूढ़िगत समाज में वर्ण-व्यवस्था का आधार कर्म के स्थान पर जन्म ले लिया और वर्तमान समय तक के उत्पन्न वर्ण-व्यवस्था के समस्त अवगुणों को जन्म दे दिया। अन्यथा यह समाज के वैज्ञानिक संगठन का एक सुन्दर स्वरूप था। वैसे आज के युग में भी व्यवस्था यही है किन्तु उसका कोई संगठन नहीं है।

आश्रम व्यवस्था—यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो तत्कालीन समाज वास्तव में वैज्ञानिक आधार पर संगठित था। वर्ण-व्यवस्था उस समय के समाज के गठन की रूप रेखा थी, परन्तु केवल वह पर्याप्त नहीं थी। समाज व्यक्तियों से बनता है इसलिए जब तक व्यक्तिगत जीवन व्यवस्थित नहीं है, समाज भी व्यवस्थित नहीं हो सकता है। इसीलिए समाज की रूपरेखा के साथ और अधिक दृढ़तापूर्वक आश्रम व्यवस्था का पालन किया जाता था। प्रत्येक नागरिक का यह धर्म या कर्त्तव्य था कि वह आश्रम-व्यवस्था का अनुसरण करें। यहीं से उसे अनुशासन की शिक्षा मिलती थी और नागरिक गुणों के विकास का अवसर मिलता था। जन्म से देहावसान तक समस्त जीवन चार आश्रम में विभाजित किया गया था और मानव की औसत आयु १०० वर्ष की अनुमान की जाती थी और २५ वर्ष की अवधि का प्रत्येक आश्रम माना गया था। सर्व प्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम होता था। इस समय व्यक्ति अपनी शारीरिक, बौद्धिक और चरित्र सम्बन्धी उन्नति की ओर ध्यान देता था और आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध पर भी गंभीर अध्ययन और अनुभव प्राप्त करता था। इस समय वह अन्य सब प्रकार की चिन्ता-व्यथा से मुक्त रहता था। गुरुओं के आश्रमों में समानता के आधार पर सच्ची शिक्षा दी जाती थी। जीवन सरल और सादा होता था। आजकल की भाँति विद्यार्थियों की भीड़ भी नहीं होती थी; क्योंकि अध्ययन की चाह ही विद्यार्थी में प्रथम और अन्तिम अनिवार्य गुण समझा जाता था। सब लोग इस अवस्था में ब्रह्मचर्य धारण करते थे इसीलिए इसे ब्रह्मचर्य आश्रम कहते थे। दूसरा आश्रम था गृहस्थाश्रम। यह आश्रम २५ वर्ष की आयु से लेकर ५० वर्ष की आयु तक माना गया था। इस समय नवयुवक गृहस्थ बन जाता था और पति-पत्नी के परस्पर सम्बन्ध निर्वाह का भार, सन्तानोत्पत्ति, समाज के प्रति कर्त्तव्य पालन, अतिथि सत्कार, माता-पिता की सेवा आदि कार्य इसी समय करने होते थे। इस आश्रम को सबसे अधिक महत्व दिया गया था। धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सुगम प्राप्ति इसी आश्रम के द्वारा हो सकती थी। इसके पश्चात् ५० वर्ष की उम्र से ७५ वर्ष की उम्र तक वानप्रस्थ आश्रम होता था। इस समय गृहस्थाश्रम का त्याग करना होता था और निष्प्रयोजन समाज तथा देश की सेवा में जुटना होता था। आजकल की भाँति मरते दम तक सांसारिक माया-मोह में फँसे रहने का विचार भी नहीं किया जाता था और फिर अन्तिम समय ७५ वर्ष अवस्था से लेकर १०० वर्ष की अवस्था तक सन्यास आश्रम होता था। इस समय मनुष्य संसार के सब सम्बन्ध छोड़कर सन्यास ग्रहण करता था। भिक्षा द्वारा अपनी

उदरपूर्ति करने लगता था और घरबार छोड़ जाता था जिससे अपनी सन्तान, जायदाद आदि से मोह छूट जाता था और निरन्तर परमात्मा के स्मरण द्वारा मोक्ष प्राप्ति में लग जाता था इस प्रकार मानव का जीवन 'शंत वर्ष जीवेत' के आधार पर १०० वर्ष का मानकर उसकी व्यवस्था और विभाजन किया था और सम्पूर्ण जीवन ही एक सरल किन्तु कठिन स्व-अनुशासन में आबद्ध था। इसका पालन करने वाले समाज में सदा प्रसन्न रहते थे और पालन न करने वालों के लिए कोई दण्ड व्यवस्था भी नहीं थी। ऐसा स्वयं स्वीकृत अनुशासन वैदिक कालीन सभ्यता में नागरिकों के लिए विद्यमान था। यह आश्रम व्यवस्था पूर्ण रूपेण वैज्ञानिक थी और आज भी है। प्रारम्भ के २५ वर्ष शिक्षा दीक्षा और शारीरिक मानसिक विकास के लिए उपयुक्त हैं। उसके बाद ही गृहस्थ धर्म की आवश्यकता होती है और सन्तानोत्पत्ति आदि का उपयुक्त अवसर होता है। इसके बाद वानप्रस्थ न लेने वाले आज भी मृत्यु पर्यन्त रोते रहते हैं और सन्यास की सीढ़ी तो वास्तव में जीवित ही मुक्त होने की अवस्था है। इन सबका अनुभव, आज भी कल्पना करने मात्र से ही, अत्यन्त शान्ति प्रदान करता है इसलिए अनुसरण तो अवश्य ही मोक्षदायक होता होगा यह निश्चय है।

संयुक्त परिवार प्रथा—अन्य संस्थाओं की भाँति संयुक्त परिवार प्रथा भी वैज्ञानिक आधार पर स्थापित की गई थी। यह भारतीय समाज की ही विशेषता है। नागरिक के जन्म से ही उसके सर्वोच्च गुणों का विकास सर्व प्रथम परिवार से ही होता है। समाजशास्त्रियों का विश्वास है कि पारिवारिक सिद्धान्तों में एक व्यक्ति का प्रभाव रक्त द्वारा चौदहवीं पीढ़ी तक जाकर पुनः प्रकट और विकसित हो जाता है। इसलिए परिवार का प्रभाव बहुत गहरा और व्यापक होता है। वैसे भी सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य को समाज चाहिए और वह भी ऐसा समाज जिस में अपनापन हो। इसी कारण संयुक्त परिवार प्रथा का जन्म हुआ जहाँ अपने ही परिवार के समस्त सदस्य मिल जुलकर रह सकें। समाज की उन्नति का दूसरा साधन सहयोग है। यह सहकारिता की भावना भी परिवार से बढ़कर अन्यत्र नहीं हो सकती। 'रक्त पानी की अपेक्षा अधिक गाढ़ा होता है' तथा 'बँधी बुहारी लाख की' आदि कहावतें इसी आधार पर प्रचलित रही हैं। वास्तव में संयुक्त परिवार का प्रभाव बहुत होता है और अलग-अलग हो जाने पर सभी की सम्मिलित प्रतिष्ठा एकदम काफूर हो जाती है। अनुशासन की दृष्टि से भी यह पद्धति ठीक थी। एक पूर्वज के नियन्त्रण में सबको रहना होता था और उसकी आज्ञा माननीय होती थी। पिता-माता, चाचा-चाची, भाई-भतीजे, पुत्र वधू आदि सभी साथ रहते हैं इसलिए परस्पर प्रेम भी विकसित होता रहता है। अन्य लाभ यह थे कि वृद्धावस्था में हर प्रकार के साधन उपलब्ध होते थे, विधवाओं का निर्वाह भी होता था, बीमारी के समय सबसे हर प्रकार का सहयोग मिलता था, कुछ कम या न कमाने वाले अथवा अपाहिज तथा कुछ अच्छा कमाने वाले मिलकर सम्पूर्ण परिवार को सुखी बनाये रखते थे और संघर्ष की दृष्टि से भी सबका मिला जुला एक अच्छा संगठन होता था। व्यावसायिक दृष्टि से कृषि, पशुपालन, कुटीर उद्योग आदि में भी यह व्यवस्था सहायक होती थी।

इसलिए इस प्रथा का महत्व था। आधुनिक काल में पश्चिमीय सभ्यता के प्रभाव से लोग व्यक्तिवादी या कहिए स्वार्थी अधिक हो गये। सहिष्णुता का अभाव और माता-पिता के प्रति सेवाभाव शून्य हो जाने के कारण भी यह प्रथा नष्ट होती जा रही है।

जाति-प्रथा—जिस सभ्यता ने व्यक्ति पर अनुशासन लाने के लिए आश्रम व्यवस्था और समाज को सुदृढ़ बनाने के लिए वर्ण व्यवस्था का प्रचलन किया, वहीं विकास स्वयं आगे भी बढ़ता गया। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार समाज के मार्ग दर्शन, अध्ययन, अध्यापन कार्य ब्राह्मणों ने अपना उत्तरदायित्व समझा और उसमें पारंगत हो गए। अच्छा स्तर रखने के लिए नियम उपनियम बनाए। कुछ गुप्त ज्ञान भी रक्खा और धीरे धीरे अपना क्षेत्र सीमित बना लिया और दूसरों से भेद करने लगे। एक वेद का पाठ करने वाले पाठक दो का पाठ करने वाले द्विवेदी, तीन का पाठ करने वाले त्रिवेदी, त्रिपाठी या तिवाड़ी और चारों वेदों का पाठ करने वाले चतुर्वेदी या चौबे कहलाने लगे और जातियाँ बनने लगीं। अन्य वर्ण के लोग भी इसी प्रकार विशेषज्ञता के आधार पर अपना एकाधिकार जमाने लगे। क्षत्रिय लोगों ने देश की सुरक्षा और प्रशासन पर अधिकार जमाया। वैश्यों ने व्यापार में एकाधिकार जमाया और शूद्रों से भेद करना आरम्भ कर दिया। कालान्तर में रीति-रिवाज अलग-अलग बन गए, खान पान और विवाह शादी के नियम भी रूढ़िगत बन गए और ये जातियाँ कर्मप्रधान रहने के स्थान पर जन्म प्रधान बन गईं। मनुस्मृति द्वारा ये जातियाँ स्थायी बन गईं। तब जाति, उपजाति आदि चल पड़ी और हिन्दू समाज विघटित होने लगा। ऊँच नीच का भेद प्रकट होने लगा और व्यक्तिगत उन्नति में बाधा हुई। लोगों का परस्पर व्यवहार बन्धनों में बंध गया और इस प्रकार राष्ट्र की मानसिक और शारीरिक उन्नति में बाधा पहुँची और राष्ट्रीय भावना का विकास भी रुक गया। अब स्वतन्त्र होने के बाद यह दोष कम हुआ है। किन्तु समूल नष्ट होने के लिए अभी कम से कम २० वर्ष और चाहियें।

अस्पृश्यता—हमारी संस्कृति के भाल पर यह एक कलंकमय अत्यन्त खेद-जनक प्रथा थी जो सैंकड़ों वर्षों तक प्रचारित रही। वास्तव में इसका श्रीगणेश तो आर्य और अनार्यों के भेद के समय से ही हो गया था किन्तु बाद में जब वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी स्वयं क्रमशः एक दूसरे से श्रेष्ठ समझने लगे तब विवाह, खानपान आदि के बन्धन कठोर बनाए गए और उनका उल्लंघन करने वालों को पतित और शूद्र की भाँति गिरा हुआ समझा जाने लगा तब यह दोष स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ। वर्त्तमान समय के प्रचलित जीर्ण जाति संगठन में आज भी यह नाटक देखने को मिलते हैं कि किसी व्यक्ति को जाति से निष्कासित करने पर उससे पानी नहीं छुआते, उसके साथ बैठकर धूम्रपान नहीं किया जाता। अतः इसी प्रकार निम्न जाति में ब्याह करने पर, जाति के नियमों का उल्लंघन करने

पर, व्यक्ति को पतित, वर्ण संकट आदि मानकर स्पर्श बन्द कर दिया जाता था। धीरे-धीरे सफाई करना, सेवा करना आदि कार्य भी नीच कार्य समझे जाने लगे और इन कार्यों के करने वाले स्पर्शयोग्य नहीं समझे गए। धीरे-धीरे वे भी इस स्थिति से सतुष्ट रहने लगे और रहन सहन का ढंग भी गन्दा हो गया। जैसे हरिजन सफाई करती हुई दशा में ही भोजन भी करने लगे। चमार चर्म कार्य में इतने व्यस्त रहते थे कि सफाई को भूल गए। इस प्रकार कुछ परिस्थितियोंवश और कुछ लापरवाही से यह अस्पृश्यता का दोष धीरे-धीरे विकसित हो गया। उधर उच्च वर्ण के लोग पवित्रता के ठेकेदार बन गए और ऐसे लोग जो स्पर्श के योग्य नहीं रहे उनके लिए मंदिर प्रवेश, शिक्षा प्राप्ति का निषेध कर दिया गया। समाज के रीति-रिवाजों ने इसकी पुष्टि कर दी और ये 'अछूत' कहे जाने लगे। गांधी जी ने इन्हें 'हरिजन' और दूसरे लोगो ने 'दलित' वर्ग के नाम दे दिये और अब स्वतन्त्र भारत में यह कलंक साफ किया गया है किंतु अभी इसका प्रभाव शेष है जिसे मिटने में कम से कम दस वर्ष और चाहिए।

आर्य और अनार्य संस्कृति का समन्वय—आर्यों के आगमन के समय भारतवर्ष में द्राविड़ लोग निवास करते थे और इनकी संस्कृति भी पूर्ण विकसित हो चुकी थी। वृक्ष, भूतप्रेत, साँप आदि की उपासना भी करते थे और अन्धविश्वासी थे। साधारणतया छोटे-छोटे ग्रामों में निवास करते थे और कहीं कहीं बड़े नगर भी विद्यमान थे जहाँ किले भी होते थे। जब आर्य लोग यहाँ आए तो उन्हें द्राविड़ों से संघर्ष करना पड़ा परन्तु आर्य लोग संघर्ष के अभ्यस्त थे इसलिए घबराए नहीं। परन्तु अनार्य काले और कुरूप थे इसलिए घृणा करने लगे और विजयी होने पर द्राविड़ों पर आधिपत्य जमाने लगे। द्राविड़ लोगों ने आर्यों की अधीनता स्वीकार कर ली। धीरे-धीरे सम्बन्ध बढ़ते गए। अनार्य कृषि में अधिक सहायक हुए। घर के काम काज में, पशुपालन में, आर्यों को अनार्यों से बड़ी सहायता मिली और वे लोग दासों की भाँति आर्यों की परिचर्या करने लगे। फलस्वरूप द्राविड़ों की मान्यतायें आर्यों के विश्वासों का आधार भी बन गयीं और आर्य लोग अनार्यों के देवी-देवता, रीति-रिवाज आदि मानने लग गए और इस प्रकार आर्य और अनार्य संस्कृति का समन्वय हो गया, किन्तु फिर भी प्रकट रूप में आर्य लोगों ने यह बात स्वीकार नहीं की और अपना प्राधान्य निरन्तर स्थापित रक्खा। वास्तव में इन दोनों के समन्वय से जो नवीन संस्कृति विकसित हुई उसे हम पौराणिक हिन्दू-संस्कृति कह सकते हैं। भक्ति की धारा प्रवाहित होना भी द्राविड़ों की देन है। शंकर, पार्वती, कृष्ण, गणेश, स्वामी कार्तिकेय आदि पूर्व वैदिक देवता हैं जो आर्यों ने भी स्वीकार किए हैं। मूर्ति-पूजा भी द्राविड़ों से ही आई है। इस प्रकार आर्य और अनार्य संस्कृति का पूर्ण समन्वय हुआ था।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. वैदिक काल की प्रमुख सामाजिक संस्थाओं पर एक निबन्ध लिखिए।

२. निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर टिप्पणियां लिखिए :—
(अ) जाति-प्रथा (आ) वर्ण-व्यवस्था (इ) आश्रम-व्यवस्था (ई) अस्पृश्यता (उ) संयुक्त परिवार।

३. आर्य और अनार्य संस्कृति के समन्वय से आप क्या समझते हैं? समझाकर लिखिए।

—: o :—

नवाँ अध्याय

बौद्ध तथा जैन धर्मों का सामाजिक महत्त्व

प्रस्तावना—बौद्ध ग्रौर जैन धर्मों के स्वरूप ग्रौर सिद्धान्तों का ग्रध्ययन हम पिछले ग्रध्यायों में कर चुके हैं। यहाँ हमें केवल उनके महत्त्व पर विचार करना है। भारतवर्ष में गीता का बहुत ग्रधिक महत्त्व माना जाता है ग्रौर उसका प्रत्येक शब्द भगवान श्रीकृष्ण के मुख से प्रसारित हुग्रा माना जाता है। उसमें कहा है "यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। ग्रभ्युत्थानं सर्वस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥" ग्रर्थात् जब जब धर्म की हानि होती है तब तब मैं स्वयं ग्राकर विश्व की रक्षा करता हूँ। बौद्ध धर्म ग्रौर जैन धर्म के प्रादुर्भाव के समय भी भारत की स्थिति दयनीय थी। यद्यपि ब्राह्मण लोग बहुत बुद्धिमान थे ग्रौर समाज का नेतृत्व उनके हाथ में था। किन्तु फिर भी ऊँच-नीच का भेद, ग्रस्पृश्यता ग्रौर जातिगत-जटिल दीवारें समाज की सामान्य प्रगति को ग्रवरुद्ध बनाने में पूर्ण समर्थ हो चुकी थीं। नागरिक नागरिक में परस्पर भेद उत्पन्न हो चुका था। एक ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मण से ऊँचा होना चाहता था। दूसरे को नीची श्रेणी का समझकर घृणा की जाती थी। समाज में कर्मकाण्ड, यज्ञ, बलि, मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोना ग्रपना महत्त्वपूर्ण स्थान लेते जा रहे थे। वास्तव में मानवता कराहने लगी थी। ऐसे ही ग्रवसर पर बौद्ध धर्म ग्रौर जैन-धर्म ग्रवतरित हुए।

कालान्तर में ग्रन्य धर्मों की भाँति बौद्धधर्म में भी मतभेद उत्पन्न हो गए ग्रौर हीनयान ग्रौर महायान दो शाखाएँ बन गईं। एक बौद्धधर्म के प्राचीन रूप को ही मानता था, बुद्ध की पूजा करता था ग्रौर नए परिवर्तन स्वीकार नहीं करता था। दूसरा महायान उदार था। रूढ़ियों के विरुद्ध विश्वहित को ग्रधिक महत्त्व देता था इसीलिए विचार स्वतन्त्रता ग्रादि को स्थान दिया गया था। यह वैदिक धर्म के ग्रधिक समीप ग्रा गया था ग्रौर वास्तविक प्रगति इसी धर्म के द्वारा हुई थी। जैन-धर्म में भी इसी प्रकार दो शाखाएँ श्वेताम्बर ग्रौर (दिक्ग्रम्बर) दिगम्बर बन गई थीं। इनमें दिगम्बर कट्टर होते थे ग्रौर श्वेताम्बर परिवर्तन स्वीकार करते थे। वास्तव में ये दोनों धर्म भारतवर्ष में थोड़े से ग्रन्तर के ग्रतिरिक्त लगभग साथ साथ ही चले।

सामाजिक महत्त्व—ग्रधिकांश विद्वानों का मत है कि बौद्ध ग्रौर जैन धर्म, धार्मिक ग्रान्दोलन तो थे ही, किन्तु उससे भी ग्रधिक ये वास्तव में सामाजिक ग्रान्दोलन थे। धार्मिक क्षेत्र में भी वेद ग्रौर उपनिषदों से उद्धृत मूल तत्त्वों का समावेश इन धर्मों में हुग्रा है ग्रौर यही कारण है बौद्ध धर्म तो बाद में वैदिक धर्म के ग्रत्यधिक निकट समझा जाने लगा ग्रौर बुद्ध भगवान को भी ग्रन्य ग्रवतारों के साथ सम्मिलित किया जाने लगा। परन्तु इससे भी ग्रधिक इन धर्मों का महत्त्व सामाजिक

रूप में हुआ। तत्कालीन समाज अनेक कुप्रथाओं और विषमताओं से पीड़ित था। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को मनुष्य ही नहीं समझता था। प्रत्येक व्यक्ति अपने को श्रेष्ठ तथा दूसरे को निकृष्ट समझने का अभ्यस्त हो गया था। अस्पृश्यता का भीषण रोग प्रचण्ड रूप धारण कर चुका था। जाति की दीवारें अभेद्य बन गई थीं। स्त्रियों और शूद्रों का जीवन दयनीय था। ऐसे ही समय में इन धर्मों ने जाति प्रथा और छूआछूत को महत्त्वहीन बताया। मौलिक मानव समानता को आधार बनाकर समाज में समानाधिकार की स्थापना की। ऊँच नीच का भेद मिटाकर अपने धर्मों का मार्ग सब प्रकार के लोगों के लिए प्रशस्त बना दिया। शूद्र और स्त्रियों के लिए कोई रुकावट नहीं रक्खी। नैतिकता और सुसंस्कृत जीवन के आदर्श समाज के सामने उपस्थित किए। बलि के स्थान पर अहिंसा, तंत्र मंत्र और जादूटोना की धोखे की टट्टियाँ हटाकर सत्य संभाषण का महत्त्व, सामान्य जीवन में शिष्ट और सदाचारमय आचरण और व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के घमण्ड के स्थान पर नम्रता को स्थान देने का महत्त्वपूर्ण प्रयास इन धर्मों ने किया। वृद्ध माता-पिता और बड़े बूढ़ों का सम्मान करने की परिपाटी पुनःजाग्रत की। इस प्रकार पतन की ओर अग्रसर समाज को बौद्ध और जैन धर्म ने सँभाला। अश्वमेध, नरमेध आदि का ऊपरी अर्थ लगाकर ब्राह्मणों ने घोड़े की बलि और मनुष्य की बलि चढ़ाना आरम्भ कर दिया था। बौद्ध और जैन धर्म ने अहिंसा का पाठ पढ़ाकर हर प्रकार के जीव-जन्तुओं की रक्षा का दायित्व मनुष्य को समझा दिया। इस प्रकार इन धर्मों के प्रचार से समाज का ढाँचा बदलने लगा। जाति पाँति की उपेक्षा होने लगी, ब्राह्मणों का महत्त्व जाता रहा। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध पर वे कभी प्रसंग भी नहीं लाते थे। संभवतः वे नास्तिक बन गए, परन्तु स्पष्ट रूप से उन्होंने ईश्वर के अस्तित्त्व का खण्डन भी नहीं किया। ऐसे धर्म की उन्नति और विकास के लिए संघों की स्थापना भी की। धर्म में विशेष रुचि रखने वाले लोग घर-बार छोड़कर संघ में सम्मिलित हो जाते थे। ये सब भिक्खु कहलाते थे। अपने शिष्यों के आग्रह पर बाद में महिलाओं के संघ भी स्थापित किए। इनमें जाति-पाँति और खान-पान का कोई भेद नहीं होता था। उनके निवास के लिए बड़े बड़े विशाल विहार और चैत्य बनाए गए जिनमें हजारों की संख्या में भिक्खु या भिक्खुणियाँ रहते थे। वे लोग भिक्षा द्वारा जीवन निर्वाह करते थे और सारा समय पठनपाठन और चिन्तन में व्यतीत करते थे। अतिथि सत्कार और अभ्यागत की प्रतीक्षा की सुन्दर परिपाटी इसी समय से चली थी। बाद में इन विहारों में पतन और भ्रष्टाचार भी फैल गया था, किन्तु यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि वर्ण व्यवस्था और अस्पृश्यता को इन्हीं धर्मों के कारण धक्का लगा और अवनति की ओर जाते समाज को रोक कर पुनः उन्नति की ओर आगे बढ़ाया।

सांस्कृतिक महत्व—सामाजिक महत्त्व के साथ इन धर्मों का सांस्कृतिक महत्त्व और भी अधिक है। दोनों धर्मों के प्रमुख संस्थापकों ने अपने उपदेश जनता की बोल चाल की भाषा में प्रस्तुत किये जिसे जनता समझकर स्वागत कर सकी।

अभी तक गूढ़ संस्कृत ही धर्म की भाषा थी इसलिए धर्म ज्ञान विद्वान ब्राह्मणों तक ही सीमित रहा। इन धर्मों के अनुयायी समृद्धिशाली लोग विशेष तौर पर व्यापारी और वैश्य होते थे जिनके पास सम्पत्ति के अटूट भण्डार होते थे। इसलिए बौद्धों ने शिक्षा का महत्त्व बढ़ाने के लिए बड़े बड़े विश्वविद्यालय स्थापित किए। छात्रावास, पुस्तकालय आदि की व्यवस्था की और अनेक विषयों का अध्ययन आरम्भ किया। अनेक सुन्दर हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह किया, अनेक विहार बनवाए जो विद्यालयों के रूप में काम में आते थे। अनेक भवनों के निर्माण द्वारा स्थापत्यकला का विकास हुआ। स्तूप, विहार, चैत्य, प्रतिमाएँ और स्तम्भ बनाए गए। चित्रकला का विकास हुआ। अशोक के राजभवन को देखकर विदेशी यात्री कहते थे ये अमानवीय हैं अर्थात् ऐसे भवन बनाना मनुष्य की क्षमता से बाहर है। उस समय का विज्ञान भी सर्वोत्कृष्ट था। अशोक की लाट ऐसे लोहे की बनी है जिस पर कभी जंग नहीं लगता, जबकि आज बीसवीं सदी का स्टेनलेस स्टील भी जंग खा जाता है। गुफाओं के भीतर बने दीवार-चित्र अब तक विश्व को आश्चर्यान्वित करते हैं। उनका ढंग, रंग और कला अत्यन्त मन-मोहक है। मूर्तिकला भी उन्नत हुई। इसके अतिरिक्त बौद्ध लोगों ने अपने सिद्धान्त विश्वव्यापी बनाने का प्रयत्न भी किया और चीन, जापान, तुर्किस्तान, ब्रह्मा आदि देशों में धर्म प्रचारक भेजे गए। इस धर्म प्रचार के साथ ही साथ विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रभाव भी बढ़ा और भारत की विशालता का परिचय मिला।

जैनधर्म द्वारा भारतीय संस्कृति में अहिंसा और कर्म सिद्धान्त की पुष्टि हुई। वैसे आर्य लोग भी अहिंसा प्रिय थे किन्तु कालान्तर में ज्ञान की कमी के कारण बलियों आदि में विश्वास करने लग गए थे। बुद्ध भगवान ने इसका निराकरण किया किन्तु अहिंसा को सर्वोपरि स्थान जैनधर्म ने दिया। उन्होंने अहिंसा की व्यापक व्याख्या करते हुए सिद्ध किया कि प्राणीमात्र को जरा सा कष्ट पहुँचाना भी, शारीरिक, मानसिक अथवा किसी भी प्रकार का, हिंसा हो जाती है। इस प्रकार समाज के सम्मुख उच्च मानवी आदर्श उपस्थित किया। कर्म-सिद्धान्त को लोकप्रिय बनाने का श्रेय भी जैनधर्म को ही है। वैसे पहले भी यह सिद्धान्त भारतवर्ष में प्रचलित था, किन्तु जैसी करनी, पार उतरनी, जैसा बोओगे वैसा काटोगे अथवा जैसा कर्म करोगे वैसा फल मिलेगा आदि उक्तियाँ जन-जन के मस्तिष्क में जँचा देने का महत्त्वपूर्ण कार्य जैनधर्म ने ही किया है और यही कारण है कि अब समस्त भारतवर्ष में यह एक लोकप्रिय सिद्धान्त है जिसे सभी धर्मावलम्बी आदर की दृष्टि से देखते हैं और जीवन में अपनाने की चेष्टा करते हैं।

साहित्यिक क्षेत्र में जैन और बौद्धधर्म का योगदान प्रशंसनीय है। अनेक तीर्थंकरों द्वारा रचित ग्रन्थ, और जातक ग्रन्थ आज भी प्राचीन भारत के साहित्य, दर्शन और कला के अपूर्व भंडार और अमूल्य निधि हैं। जैनियों का तर्क शास्त्र बहुत विकसित और सुन्दर है। उनके ग्रन्थों में विषयों का विवेचन आदर्श है। उनकी वैज्ञानिक विचार प्रणाली द्वारा दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में अनेकान्तवाद के सिद्धान्त का

प्रतिपादन उल्लेखनीय है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक विषय का अध्ययन अनेक पक्षों से किया जाना चाहिए। केवल एक पक्षीय ज्ञान अधूरा ही नहीं घातक भी होता है। अध्ययन की गहनता और व्यापकता की ओर लक्ष्य करता हुआ यह सिद्धांत, चिन्तन की गम्भीरता के साथ विचारों की उदारता का प्रतीक भी है। इन दोनों धर्मों ने भारतवर्ष को साहित्य के सभी क्षेत्रों में योगदान किया है। कथाएँ, दर्शन, उपदेश, काव्य, नाटक इत्यादि सभी इनके साहित्य में उपलब्ध हैं। अन्य अनेक विशेषताओं के साथ इनके साहित्य और कला में सरल उच्च आदर्श और जन-साधारण के लिए उपयोगी सिद्धान्तों का लोकप्रिय प्रतिपादन बहुत ही सुन्दर ढंग से हुआ है।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति बौद्ध और जैनधर्म के सहयोग बिना अपूर्ण रहती है। इसीलिए हिन्दू-संस्कृति, बौद्ध और जैन संस्कृति, सभी के समन्वय के फलस्वरूप ही हमारी वर्तमान भारतीय संस्कृति प्रस्तुत होती है, जो विश्व के वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय आदर्श के अनुकूल सब संस्कृतियों से अधिक उपयुक्त है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ बौद्ध और जैनधर्म का सामाजिक महत्व समझाइए।

२. "बौद्ध और जैनधर्म ने भारतीय संस्कृति के विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान किया है" इस मत की पुष्टि कीजिएगा।

३. बौद्ध और जैनधर्म के साहित्य, कला और दर्शन के सम्बन्ध में एक विवेचनात्मक निबन्ध लिखिए।

—: ० :—

दसवाँ अध्याय

भारतीय सभ्यता का स्वर्णकाल

(Classical Indian Civilization)

प्रस्तावना—भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता का स्वर्णयुग ईसा से पूर्व लगभग चौथी शताब्दी से प्रारम्भ होकर ईसा की सातवीं शताब्दी तक माना जा सकता है। यह तो प्रामाणिक रूप से सिद्ध हो चुका है कि भारत की सभ्यता का ग्रारम्भ ग्रनादि काल से हो चुका था जिसके ग्रवशेष हमें सिधु की घाटी की सभ्यता के रूप में मोहनजोदड़ो ग्रादि स्थानों पर प्राप्त हुये हैं। परन्तु उसके पश्चात् भी भारतीय सभ्यता निरन्तर देश ग्रौर काल के ग्रनुसार ग्रपने को संशोधित ग्रौर परिवर्तित करती गई है। द्राविड़ सभ्यता के पश्चात् वैदिक सभ्यता का प्रादुर्भाव हुग्रा ग्रौर दोनों के समन्वय द्वारा एक नवीन भारतीय संस्कृति का विकास हुग्रा जिसे कुछ विद्वान भारत की पौराणिक सभ्यता की संज्ञा देते हैं। इसका रूप विकृत होने लगा तब बौद्ध ग्रौर जैन धर्म प्रतिपादित किये गये ग्रौर उनका लोकप्रिय रूप जनता जनार्दन के सामने उपस्थित हुग्रा। इन सब के समन्वय के फलस्वरूप जो संस्कृति मुखरित हुई वही भारतवर्ष की सभ्यता का स्वर्ण काल है जिसे कुछ विद्वान (Classical Indian Civilization) सनातन ग्रथवा उत्कृष्ट भारतीय सभ्यता का नाम देते हैं। इस समय भारतीय सभ्यता ने ग्रपना कलेवर ही विकसित नहीं किया, किन्तु ग्रपने व्यापक विस्तार के साथ देश विदेशों पर ग्रपना प्रभाव स्थापित करते हुये उन्हें भी उन्नति की ग्रोर ग्रग्रसर होने की प्रेरणा प्रदान की। तत्कालीन भारतीय सभ्यता का ग्रध्ययन हम मुख्यरूप से तीन भागों में करेंगे। प्रथम, राजव्यवस्था ग्रौर समाज, दूसरा, बौद्धिक एवं सांस्कृतिक प्रगति ग्रौर तीसरा, विदेशों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध।

तत्कालीन राज्य व्यवस्था ग्रौर समाज

भारतीय सभ्यता के स्वर्णकाल की राज्य व्यवस्था बहुत सुन्दर थी। साधारणतया उस समय विशाल राज्य होते थे ग्रौर राज्यों का विस्तार ही उनके जीवन की पहचान था। इसलिये साम्राज्य की स्थापना शासकों का लक्ष्य होता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये राज्य सम्पन्न होते थे, सेना शक्तिशाली होती थी ग्रौर युद्ध कौशल को बहुत महत्व दिया जाता था। इसलिये शासन व्यवस्था की दृष्टि से राज्यों का स्वरूप नृपतन्त्रात्मक (राजतन्त्र) ही होता था, किन्तु गणराज्यों का प्रचलन भी था। राजतन्त्र व्यवस्था में राजा स्वयं शासन संचालन करता था ग्रौर ग्रपनी सहायता के लिये मंत्री-परिषद की व्यवस्था करता था। गणराज्यों में जनता के प्रतिनिधि शासन चलाते थे। गणराज्य भी कई प्रकार के होते थे परन्तु मूलरूप

से शासन क्षेत्र में एक ही सिद्धान्त काम में आता था जैसे राज्य की नीति का निर्धारण ये प्रतिनिधि ही करते थे, राज्याध्यक्ष इन्हीं प्रतिनिधियों द्वारा निर्वाचित किया जाता था, चाहे जनसाधारण में से हो अथवा वंशानुक्रम राज्य परिवार में से कोई हो आदि आदि। राजतन्त्र में राजा निरंकुश होता था किन्तु शास्त्र, मर्यादा और नियमों के कठोर प्रतिबन्धों के कारण वह वास्तव में जनता का सेवक होता था। वे मंत्रीपरिषद के परामर्श से ही राज्य का काम-काज करते थे। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ राजा लोग अपनी इच्छानुसार राज्य में साधारण से साधारण कार्य अथवा धन खर्च करने में असमर्थ रहे हैं।

राजनीति के सिद्धान्त—तत्कालीन युग में राज्य और राजा को एक ही रूप में माना गया था और राजा का अभाव समाज में अराजक स्थिति उत्पन्न कर देता था अर्थात् समाज की व्यवस्था राजा के बिना सम्भव ही नहीं मानी गई थी इसीलिये शास्त्रों में उल्लेख किया है कि जब राजा नहीं था तब समाज में 'मत्स्य न्याय' की स्थिति थी और अब भी यदि राजा न रहे तो वही 'मत्स्य न्याय' की प्राकृतिक अवस्था उत्पन्न हो जायगी। 'जीवोजीवस्य भोजनम्' का सिद्धान्त कार्यान्वित होने लग जायगा। इस प्रकार राजा ही समस्त सामाजिक व्यवस्था का मूल स्वीकार किया गया था। राजा की उत्पत्ति के अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं। कहीं उसे भगवान के अंश से उत्पन्न माना है, कहीं भगवान का प्रतिनिधि स्वीकार किया है और कहीं देवताओं के अंश को लेकर राजा के निर्माण का वर्णन किया गया है। इन सब सिद्धान्तों का तात्पर्य यह है कि राजा समाज में सर्वोपरि है और ईश्वर का प्रतिनिधि है इसलिये हर स्थिति में उसकी आज्ञायें शिरोधार्य होनी चाहियें। कुछ लोग तो यह भी मानते हैं कि यदि राजा अनाचार करता है तो उसे प्रजा अपने बुरे कर्मों का दण्ड और अच्छा शासन करता है तो पुण्य का फल समझे। इस प्रकार राजा को बहुत ऊँचा उठा दिया है और सर्वशक्तिमान शासक बनाया है। किन्तु दूसरी ओर वह प्रजा का सच्चा सेवक भी है। राज्य का शासन वह वास्तव में स्वेच्छापूर्वक नहीं कर सकता था। तत्कालीन राजनीति अथवा दण्डनीति, जो महर्षियों के शाश्वत चिन्तन के फल-स्वरूप प्रणीत होती थी, के आधार पर ही चलता था। दण्ड राजा से भी ऊपर समझा गया था, वह अच्छे राजा का पालक किन्तु पतित राजा के अनेक वंशों को नष्ट करने वाला समझा जाता था। इसलिये राजा दण्ड के सिद्धान्तों का ही अनुसरण करता था। उसके लिये अनेक योग्य व्यक्तियों का परामर्श भी अनिवार्य था इसलिये मंत्रीपरिषद का विधान था। मंत्रियों की योग्यतायें निर्धारित की गई थीं। उसी राज्य के नागरिक, जो निर्भय, शूर, बुद्धिमान, कुलीन और दृढ़भक्त हों, वही मंत्री बन सकते थे। राज्य कर की मात्रा भी सिद्धान्तानुसार निश्चित की हुई थी—राजा स्वयं अपनी मनमानी करने में सर्वथा असमर्थ था। राज्याभिषेक के समय शपथ ग्रहण की जाती थी जिसमें शासक नैतिक मर्यादायें स्वीकार करता था और अपने कर्त्तव्यनिष्ठ बने रहने की प्रतिज्ञा करता था। जीवन भर ये प्रतिज्ञायें उनका मार्ग दर्शन करती थीं। इस शपथ का निर्वाह न करने वाला शासक 'प्रतिज्ञा

दुर्बल' कहा जाता था और उसकी निन्दा की जाती थी। इस प्रकार राज्य व्यवस्था के विशद सिद्धान्त प्रचलित थे। इस विषय पर अनेक ग्रन्थ भी लिखे गये थे, किन्तु अधिकांश अब प्राप्य नहीं हैं। अधिकांश ऐसे ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें अन्य विषयों के साथ इन सिद्धान्तों का वर्णन हुआ है। तत्कालीन ग्रन्थों में चाणक्य का अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीति सार, महाभारत का राजधर्म पर्व आदि मुख्य हैं। इन ग्रन्थों का विशेष वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा।

प्रशासन—राजनैतिक सिद्धान्तों का व्यवहारिक रूप प्रशासन में प्रकट होता था। उस समय साम्राज्य अथवा राज्य प्रशासन की सुविधा की दृष्टि से बहुत सुन्दर ढंग से संगठित किया जाता था। प्रत्येक राज्य अनेक प्रान्तों में विभाजित किया जाता था। प्रान्तों का शासन गवर्नर, प्रान्तपाल या राज्यपाल के आधीन होता था। इस पद पर साधारणतया राजवंश के कुमार अथवा कुलीन व्यक्ति ही नियुक्त होते थे। सम्राट, मंत्रीपरिषद की अनुमति से ये नियुक्तियाँ करता था। कुमारों अथवा प्रान्तपालों की सहायता के लिये प्रान्तीय मंत्रीपरिषदें भी होती थीं और ये सब लोग मिलकर ही प्रान्त की सारी व्यवस्था संचालित करते थे। प्रान्त का विभाजन 'आहारों' में होता था जिसे 'मुक्ति' भी कहते थे। यह आज कल के डिवीजन की भांति होता था। यहाँ का भी एक अध्यक्ष होता था। मुक्ति का विभाजन विभिन्न 'विषयों' में होता था, जो आजकल के जिले की भांति होता था। इसमें लगभग एक हजार ग्राम होते थे। फिर सौ-सौ गांवों के अनुमान से दस भाग किये जाते थे और प्रत्येक भाग का एक अफसर होता था। फिर प्रत्येक भाग के दस भाग किये जाते थे उसका भी एक अफसर होता था। फिर प्रत्येक ग्राम का स्वयं भी और राज्य की ओर से भी एक अध्यक्ष होता था जिसे ग्रामणी, मुखिया अथवा पटेल कहते थे। सामन्त प्रथा का उस समय अभाव था। समस्त भूमि राज्य की मानी जाती थी। जनता की सुविधा के लिये अनेक कार्य किये जाते थे और आपत्तिकाल में राजा विशेष प्रवन्ध करता था। इस प्रकार व्यवहारिक शासन का संगठन आदर्श रूप में हुआ था।

विभिन्न विभागों की व्यवस्था—राज्य की व्यवस्था में प्रशासन विभाग तो मुख्य होता ही था किन्तु अन्य अनिवार्य विभागों का संगठन भी पूरी तरह किया जाता था। न्याय विभाग, सुरक्षा विभाग, स्थानीय स्वशासन विभाग, स्वास्थ्य विभाग आदि अनेक ऐसे ही विभाग थे। चाणक्य ने ऐसे छत्तीस विभागों का वर्णन किया है। प्रत्येक विभाग एक अध्यक्ष के आधीन होता था जिसकी प्रतिष्ठा मंत्रियों के समान ही होती थी और वैसी ही योग्यतायें भी विभागाध्यक्ष के लिये अनिवार्य होती थीं। राज्य की सेवा में योग्यता को ही सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया जाता था, तो भी अन्य योग्यताएँ नागरिकता, कुलीनता, कार्यकुशलता को भी दृष्टि में रखा जाता था। तत्कालीन विभागाध्यक्ष के विशेष पारिभाषिक ढंग से सम्बोधित किये जाते थे। उदाहरणार्थ राजस्व आयुक्त (Revenue Commissioner) को समाहर्त्ता, कोषाध्यक्ष (Treasury Officer) को कोष्ठागाराध्यक्ष और व्यापार एवं उद्योग आयुक्त

(Commissioner of Trade and Industry) को पण्याध्यक्ष कहते थे। इस प्रकार प्रत्येक विभाग पूरी तरह से संगठित एवं व्यवस्थित था। इनमें से मुख्य एक दो विभागों के गठन का वर्णन हम यहां करते हैं वह प्रतीक रूप में पर्याप्त रहेगा।

न्याय विभाग—इस क्षेत्र में राज्य पूर्ण रूप से सिद्धान्तों का पालन करता था। तदनुसार राज्य में नियम सर्वोपरि होता था। मनीषियों द्वारा शास्त्रानुकूल नियम ही न्याय का आधार थे। व्यवहार में सम्राट ही सर्वोच्च न्यायाधीश होता था किन्तु वह नियम के विरुद्ध जाने में असमर्थ रहता था। न्याय की दृष्टि से दीवानी और फौजदारी दोनों शाखाएँ मानी गई थीं और दोनों ही प्रकार के न्यायालय होते थे। दीवानी को 'धर्मस्थीय' और फौजदारी को 'कंटक शोधन' न्यायालय कहा जाता था। क्रमिक संगठन में सम्राट के पश्चात् न्याय-मंत्री का स्थान था जिस पर अधिकांश ब्राह्मण (पुरोहित) को ही नियुक्त किया जाता था जो ब्राह्मण और अब्राह्मण दोनों को, अपराध और पाप दोनों ही दृष्टि से दण्ड दे सकता था। उसके पश्चात् व्योहारिका, प्रदेष्टा, राजुक आदि अनेक न्यायाधीश होते थे और प्रारम्भ में ग्राम की पंचायतें ही प्रथम न्यायालय होती थीं। निम्न न्यायालय के निर्णय की अपील सदैव ऊपर वाले न्यायालय में जा सकती थी। अन्तिम अपील सम्राट के पास होती थी। वकील प्रथा भी अप्रत्यक्ष रूप में चल पड़ी थी। न्याय शुद्ध रूप में सम्पादित होता था। न्याय परीक्षा के अनेक उपाय प्रचलित थे जैसे अग्नि-परीक्षा, जल-परीक्षा आदि। झूठी साक्षी भयंकर अपराध माना जाता था और उनके अंग भंग कर दिये जाते थे। भयंकर अपराधों के लिए प्राणदण्ड भी दिया जाता था। साधारण अपराधों के लिए हाथ, पैर, नाक, कान आदि काटने की प्रथा प्रचलित थी। अर्थ-दण्ड भी दिया जाता था। फिर न्याय व्यवस्था उदार ही मानी जाती थी। अपराधों की संख्या गिरना, न्याय की उत्तम व्यवस्था और बढ़ना हीन व्यवस्था का द्योतक समझा जाता था। इस प्रकार तत्कालीन राज्यों में न्याय व्यवस्था की जाती थी।

सुरक्षा विभाग—मानव सभ्यता के विकास से लेकर आज तक राज्यों का मौलिक आधार सेना का संगठन ही है और रहेगा। वर्त्तमान समय में सैनिक सहायता से ही पल भर में राज्यों का स्वरूप बदल जाता है। इसीलिए प्राचीन काल में भी सेना का विभाग पूर्ण रूप से संगठित था। सेना में भी अनेक शाखायें होती थीं जैसे, जल सेना, स्थल सेना आदि और स्थल सेना में भी अश्वारोही, रथ सेना आदि संगठित होती थी। सेना की व्यवस्था के लिए एक अलग परिषद भी होती थी जिसमें ३० सदस्य होते थे और उनकी ६ समितियाँ सम्पूर्ण कार्य की व्यवस्था करती थीं। वे नौ समिति, रसद और वाहन, पदाति, अश्व, रथ और गज समितियां कहलाती थीं। चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य में चतुरंगिणी सेना थी जिसमें नौ हजार हाथी, आठ हजार रथ, तीस हजार अश्वारोही और छः लाख पैदल थे। प्रत्येक हाथी पर चार और रथ में तीन सैनिक बैठते थे और कुल सेना मिला कर छः लाख नव्वे हजार के लगभग थी। उसी समय नौ सेना भी संगठित होती थी और ऊँटों की सेना भी

प्रचलित हो गई थी। कवच का प्रचार भी उस समय था। सेना विभाग के अध्यक्ष अलग अलग समय में विभिन्न रूप से सम्बोधित होते रहे हैं, जैसे सेनाध्यक्ष, महाबलाधिकृत, महाबलाध्यक्ष आदि। इस प्रकार सेना और सुरक्षा विभाग व्यवस्थित था।

स्थानीय स्वशासन विभाग—स्वायत्त संस्थायें वास्तविक प्रजातन्त्र की नींव होती हैं और भारतवर्ष में यह आधारभूत दृढ़ता प्रारम्भ से ही रही है। ग्राम्य क्षेत्रों में गाँव-पंचायत और नगर-क्षेत्रों (Urban areas) में नगरपालिकायें सदैव ही संगठित रही हैं। राजनैतिक परिवर्त्तनों का प्रभाव भी इन संस्थाओं पर नहीं होता था और देश का स्थानीय जीवन अक्षुण्ण रूप से चलता रहता था। इसीलिए ग्राम-पंचायतों का वर्णन करते समय अनेक यूरोपियन विद्वानों ने उन्हें "सूक्ष्म गणराज्य" (Little Republics) की संज्ञा दी है। विदेशी यात्रियों के द्वारा किये गये वर्णन ऐसी संस्थाओं की प्रशंसा के प्रसिद्ध प्रमाण हैं। मेगस्थनीज और फाह्यान ने ऐसी संस्थाओं का अच्छा अध्ययन किया था और उनके संगठन को देख कर वे वास्तव में बहुत प्रसन्न हुए थे। पाटलिपुत्र की नगरपालिका उस समय ३० सदस्यों से बनी हुई थी जो छः समितियों द्वारा (प्रत्येक समिति में पांच सदस्य होते थे) कार्य सम्पादन करती थी और प्रत्येक समिति का कार्य-क्षेत्र स्वतन्त्र होता था। उद्योग एवं व्यवसाय, कर-प्राप्ति, जन्म-मरण लेखा, हस्त-कौशल, वाणिज्य-व्यापार तथा विदेशियों की व्यवस्था ये छः समितियाँ होती थीं। सार्वजनिक अन्य कार्यों के लिए जैसे भवन-निर्माण, सफाई, स्वास्थ्य आदि का कार्य ये सभी सदस्य सामूहिक रूप में मिल कर करते थे। इन संस्थाओं का अलग कोष होता था और नियमों का उल्लंघन करने वालों को अर्थदण्ड भी चुकाना होता था। इन संस्थाओं के सदस्य साधारणतया अवैतनिक होते थे।

इसी प्रकार ग्राम व्यवस्था पंचायतों के हाथ में थी। उनके अधिकार व्यापक थे। समस्त गाँव की एक ग्राम सभा होती थी। वह निर्वाचन द्वारा कुछ सदस्यों की समिति बनाती थी। वे सारी व्यवस्था करते थे। यहाँ भी कोष होता था, ये भी अर्थ दण्ड देने के अधिकारी थे। ग्राम की सफाई, स्वास्थ्य, मार्ग निर्माण, जल-व्यवस्था आदि यही समिति कराती थी जिसे कहीं 'पंचायत' और कहीं 'पंच-मण्डली' कहते थे। गाँवों में ये संस्थायें पवित्र समझी जाती थीं और "पंच-परमेश्वर" की मान्यता तभी से भारतवर्ष में चली आ रही है। यह प्रथा अंग्रेजों के आने तक भारतवर्ष में चलती रही है।

इस प्रकार प्रशासन की दृष्टि से प्राचीन युग में भारतवर्ष वैज्ञानिक ढांचे पर संगठित था। उपरोक्त वर्णन के अतिरिक्त यह भी उल्लेखनीय है कि आवागमन के अच्छे साधन और मार्ग न होते हुए भी उस समय समस्त राज्य की तात्विक और शुद्ध सूचना नित्य राजधानी में आ जाती थी। ऐसी (News Reporters System) प्रतिवेदन व्यवस्था जमी हुई थी। ऐरियन नामक एक यूनानी विद्वान ने लिखा है कि सम्राट के पास सदैव सच्ची सूचना आती थी। कर-सिद्धान्त स्वीकृत होने के कारण

अधिक कर लगाने या वसूल करने का सन्देह नहीं था। यात्रियों की सुख सुविधा के लिए मार्ग-निर्माण, वृक्षारोपण, कूप बनवाना, धर्मशालायें बनाना, दूरी सूचक पट्ट या प्रस्तर अंकित करवाना आदि कार्य भी राज्य करता था। जनता की सुख समृद्धि बढ़ाने के लिए व्यापार की सुविधायें देना, कृषि की उन्नति के लिए सिंचाई आदि की व्यवस्था भी राज्य करता रहता था। यह सारा कार्य तत्कालीन राज्य व्यवस्था द्वारा किया जाता था।

तत्कालीन समाज—प्राचीन भारत के स्वर्णकाल में समाज सुगठित था। यद्यपि दीर्घकाल व्यतीत हो जाने के कारण कुछ रूढ़ियां घर कर गई थीं और कुछ सिद्धान्त विस्मरण होकर दोष रूप में आने लगे थे, तथापि उनका वास्तविक प्रचलित रहा। आश्रम व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था और संयुक्त परिवार प्रणाली द्वारा व्यक्ति, समाज और परिवार शास्त्रीय अनुशासन में बद्ध थे। बुद्ध और महावीर स्वामी ने जाति प्रथा के बढ़ते हुए दोष पर घोर प्रहार किया था, जिससे जाति की मर्यादाएँ, जो अवांछनीय बन गई थीं, नष्ट भ्रष्ट हो गई किन्तु जातियों का अस्तित्व बना रहा। मेगास्थनीज ने मौर्य साम्राज्य के समय भारतवर्ष में मुख्य सात जातियों का उल्लेख किया है, जिनमें दार्शनिक, कृषक, चरवाहे, शिल्पी, सैनिक, प्रतिवेदक तथा सभासद अथवा राजकर्मचारी सम्मिलित थे। समाज में घृणित कार्य करने वाले चाण्डाल, मांस विक्रेता आदि लोगों को निम्न श्रेणी का समझा जाता था और वे ग्राम की सीमा के बाहर ही निवास करते थे। नगर प्रवेश के समय वे घंटी बजाते हुए या आवाज करते हुए चलते थे ताकि वे किसी से स्पर्श न कर जायें। सन् १९४७ तक भी यह प्रथा भारतवर्ष में हरिजनों के लिए प्रचलित थी। पशुओं का उपयोग सवारी के लिए भी होता था। हाथी, घोड़ा, ऊँट आदि मुख्य पशु थे। समाज समृद्धि-शाली था। उद्योग धन्धे व्यवस्थित और उन्नत थे, पड़ौसी देशों से गहरा व्यापार होता था। उच्च कर्मचारियों को सुन्दर वेतन मिलता था। लगभग ४८ हजार पण (वर्त्तमान समय के एक रुपये के समान) प्रतिवर्ष होता था। समाज में शांति स्थापित थी। दण्ड व्यवस्था कठोर थी। प्राणदण्ड भी दिया जाता था; किन्तु फाह्यान ने उल्लेख किया है कि प्राणदण्ड की घोषणा उसने कभी नहीं सुनी। इससे प्रकट है कि समाज बहुत अच्छे ढंग से व्यवस्थित था। उपचार के हेतु बड़े-बड़े चिकित्सालय बनाये गए थे। रोगियों के निवास का प्रबन्ध भी होता था। इस सम्बंध में भारत यूरोप से लगभग १००० वर्ष पहले ही सचेत हो गया था। जनता में सचाई और ईमानदारी तथा अहिंसक प्रवृत्तियाँ मूल रूप से जागृत हो चुकी थीं। परस्पर व्यवहार अत्यन्त शिष्ट तथा स्नेह सिद्ध होता था। आतिथ्य गर्व की वस्तु माना जाता था। चोरियों का नाम नहीं था। यही युग था जब भारतवर्ष में ताले नहीं लगाए जाते थे, दूध घी की सरितायें प्रवाहित होती थीं और यह देश 'सोने की चिड़िया' कहाता था।

महिला समाज—उस समय समाज में महिलाओं की प्रतिष्ठा होती थी। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' का अभ्यास होता था। किन्तु समाज में

बहु-विवाह की प्रथा भी प्रचलित थी। इसके कई कारण थे। उस समय बड़े परिवार कई रूप में सुखकर और शक्तिदायक होते थे। इसलिए अपना संगठन बढ़ाने और मजबूत करने के लिए अनेक सन्तानों की उत्पत्ति सामाजिक प्रतिष्ठा का कारण मानी जाती थी। बहुत से लोग सन्तानरहित होने की स्थिति में पौराणिक विश्वासों के अनुसार 'पानी देने वाला' अथवा पूर्वजों को 'उदक' चढ़ाने वाला उत्पन्न करने के ध्येय से बहु-विवाह करते थे। कुछ लोग केवल आनन्द के हेतु भी ऐसा करते थे, इसमें सन्देह नहीं है। कौटिल्य ने यह लिखा है कि पुरुष कितने ही विवाह कर सकता है और स्त्रियाँ सन्तानोत्पत्ति के लिए ही होती हैं। पुरुष और स्त्रियाँ सभी को विशेष स्थिति में पुनर्विवाह की स्वतन्त्रता थी। इन परिस्थितियों का उल्लेख, मनुस्मृति और अर्थशास्त्र में पर्याप्त विस्तार के साथ हुआ है नियोग प्रथा और दहेज भी प्रचलित था किन्तु बहुत कम। कालान्तर में जाकर स्त्रियों का स्थान समाज में पूर्ववत् नहीं रहा। वे पूर्णरूपेण पुरुष के आधीन होती चली गईं। उनका क्रय विक्रय होने लगा और सामाजिक प्रतिष्ठा का भी धीरे-धीरे अभाव होता चला गया। फिर भी गुप्तकालीन भारत में महिलाओं का स्थान अच्छा था। उनकी शिक्षा के लिए सुन्दर व्यवस्था थी। विवाह पवित्र संस्कार माना जाता था। लड़कियों को अपने पिता की सम्पत्ति में उत्तराधिकार का अधिकार तो नहीं था किन्तु 'स्त्रीधन' का महत्व बहुत अधिक था। किशोरावस्था में ही कन्याओं का विवाह कर देने का नियम सा था। विधवा विवाह भी होते थे किन्तु कम इसी युग में सती प्रथा भी चल पड़ी थी किन्तु अधिक व्यापक नहीं हुई थी। विदेशी आक्रमणों के कारण स्त्रियाँ परदे में रहने लगी थीं। इस प्रकार महिलाओं का समाज बहुत ऊँची अवस्था में तो नहीं था किन्तु फिर भी सामान्य स्तर भी अवश्य था।

नागरिक जीवन—तत्कालीन समाज का जीवन बहुत सरल था। साधारण भोजन और अति सरल वेशभूषा का प्रचलन था। मांसाहार प्रचलित था। पशुपक्षियों का संहार और शिकार किया जाता था किन्तु बौद्ध और जैन धर्म से इस ओर पर्याप्त शांति स्थापित हो गई थी। सुरा का प्रचार भी बहुत था। सरकार की आय साधारण रूप में मद्य विभाग द्वारा बहुत होती थी। मद्य की व्यवस्था बड़ी-बड़ी दुकानों में की जाती थी। बेचने और पीने का स्थान भिन्न होता था। ये स्थान पुष्पादि सजाकर आकर्षित बनाए जाते थे और वहीं सब प्रकार के ऐश-आराम की व्यवस्था भी होती थी। दासियाँ और रूपाजीवायें वहाँ सेवा करती थीं। परन्तु सार्वजनिक स्थानों पर मद्य-पान निषिद्ध था। इन स्थानों पर स्वदेशी और विदेशी दोनों प्रकार की शराब का प्रयोग नियमानुकूल था। विदेशी मद्य पर कर अधिक लगाया जाता था। इनकी दुकानों और स्थानों के लिए, राज्य की स्वीकृति (लाइसेंस) अनिवार्य होती थी और इसके उपलक्ष में कुछ शुल्क भी जमा करना पड़ता था।

नागरिक जीवन में प्रफुल्लता और आनन्द बनाए रखने के लिए आमोद प्रमोद को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था। तत्कालीन समाज में संगीत, नृत्य,

त्यौहार, शिकार, शांत-खेल (in-door-games) और क्षेत्र-खेल (out-door-games) का बहुत प्रचार था। समाज में कुछ लोगों का यह व्यवसाय ही था कि वे नागरिकों का मनोविनोद करते हुए ही जीवनयापन करें, जैसे नट, नर्तक, गायक, वादक, बाजीगर, कालबेलिया, बन्दर और रीछ नचाने वाले मदारी और चुटकले और पद्य-बद्ध विरदावलि और अन्य हास्य रस का काव्य सुनाने वाले भाट और चारण इसी श्रेणी में आते हैं। पूरे समाज की दृष्टि से नगर में ऐसी संस्थायें, नाट्यशालायें, रंगमंच आदि की व्यवस्था भी होती थी। राज्य का इन सब क्रिया-कलापों पर पूर्ण नियन्त्रण होता था।

इसी प्रकार भारत की सभ्यता का स्वर्ण काल कैसा था यह भली भाँति ज्ञात हो जाता है और तत्कालीन राज्य-व्यवस्था और समाज के सम्बन्ध में अनेक प्रश्नों का हमें पर्याप्त परिचय मिलता है। इसलिए उपरोक्त आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजनैतिक और नागरिक क्षेत्र में प्राचीन भारत बहुत अग्रसर हो चुका था और अन्य देशों के समक्ष तुलना की दृष्टि से भी काफी उन्नत और अग्रसर था, यह सिद्ध होता है।

अभ्यास के लिये प्रश्न

१. भारत की सभ्यता के स्वर्णकाल से आप क्या समझते हैं विस्तारपूर्वक लिखिए।

२. भारत के स्वर्णकाल के समय के राजनैतिक सिद्धान्त और प्रशासन की व्याख्या कीजिए।

३. तत्कालीन भारत का नागरिक-जीवन कैसा था—इस विषय पर निबन्ध लिखिए।

४. भारत के स्वर्णकाल में महिलाओं की स्थिति कैसी थी—वर्णन कीजिए।

—:o:—

ग्यारहवां अध्याय

बौद्धिक एवं सांस्कृतिक प्रगति

प्रस्तावना--भारतीय सभ्यता के स्वर्णकाल में बौद्धिक एवं सांस्कृतिक प्रगति भी आश्चर्यजनक हुई थी। यह स्वाभाविक था कि जहाँ प्रशासनिक संगठन वैज्ञानिक आधार पर विकसित और स्थापित हो गया था तथा समाज का जीवन क्रमशः संतुलित और परिष्कृत बन गया था वहाँ साहित्य और कला की प्रगति अवश्यम्भावी थी। समृद्धि का प्रकाश सदैव साहित्य और संस्कृति एवं कला कृतियों द्वारा ही विकीर्ण होता है। इसीलिए इस स्वर्णकाल में भारतवर्ष में बौद्धिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में अनेक नवीन प्रयोग किये गये। कला की वस्तुओं का, साहित्य के ग्रन्थों का सृजन हुआ जो तत्कालीन भारतीय स्तर के प्रतीक हैं और आज भी गौरव के गंभीर विषय हैं। इन सब क्षेत्रों की प्रगति का हम क्रम से संक्षेप में अध्ययन करेंगे।

साहित्य एवं कला--यह युग साहित्य और कला की सर्वांगीण उन्नति का युग था। उस समय भारतवर्ष में शिक्षा का बहुत प्रचार था और उसकी सफलता का आधार तत्कालीन शिक्षा पद्धति थी। आजकल की भाँति शिक्षा राज्याधीन नहीं थी। शिक्षा वास्तव में ज्ञान उपार्जन के लिए प्राप्त की जाती थी और शिक्षा देने वाले भी आचार्य, पुरोहित आदि चिन्तनशील योग्य गुरुओं द्वारा अपने अपने आश्रमों में स्वतन्त्रतापूर्वक दी जाती थी। प्रवेश पाने के लिए सिफारिशें नहीं चलती थीं। शिष्यों की योग्यता की परीक्षा होती थी, ऊँच-नीच का भेद नहीं था। अध्यापक का समाज में अत्यधिक सम्मान था। माता-पिता का स्थान गुरू के बाद आता था, राज्य के आधीन न होते हुए भी गुरुओं को राज्य की ओर से सहायता दी जाती थी। वे कर मुक्त होते थे। बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों का प्रचलन था और विशेषज्ञता (specialization) की प्रथा थी, तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमपुर, काशी, पाटलिपुत्र आदि तत्कालीन ख्याति प्राप्त शिक्षा के केन्द्र थे। यहाँ वेद, समस्त विद्यायें जैसे धनुर्विद्या आदि, चिकित्सा शास्त्र, व्याकरण, गणित आदि विभिन्न विषयों की शिक्षा प्रदान की जाती थी। इस प्रकार शिक्षा का स्तर अति उच्च, उत्तम और स्वतन्त्र था।

जब शिक्षा प्रसार बहुत था तो साहित्यिक स्तर का ऊँचा होना भी स्वाभाविक था। प्रारम्भिक काल की रचनाएँ अधिकांश संस्कृत, पाली और प्राकृत में होती थी। अर्थशास्त्र, 'अल्प-सूत्र', 'कथा वस्तु' आदि ग्रन्थ इसी युग की रचनायें हैं। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' अपने युग की तो अमूल्य रचना था ही, आज भी भारतीय प्राचीन राजनीति के सिद्धान्त का अमूल्य ग्रन्थ है। भद्रबाहु का 'अल्पसूत्र' भी धर्मग्रन्थों के सुन्दर भाष्य के लिए प्रसिद्ध है। न्याय और मीमांसा के ग्रन्थों का सृजन हुआ, व्याकरण ग्रन्थ लिखे गए। कात्यायन आदि प्रसिद्ध व्याकरणाचार्य भी इसी युग में उत्पन्न हुए थे। धीरे धीरे संस्कृत भाषा ही अधिक लोकप्रिय बन गई

और बौद्ध और जैन धर्मावलम्बियों ने भी अपने ग्रन्थ इसी भाषा में लिखना आरम्भ कर दिया। प्राकृत और पाली भाषा के गौण हो जाने से संस्कृत भाषा की और भी अधिक उन्नति हुई। इसीलिए यह संस्कृत भाषा का स्वर्णकाल कहा जाता है। संस्कृत भाषा और साहित्य की सर्वांगीण उन्नति इसी युग में हुई और महाकवि कालिदास ने इस उन्नति में चार चाँद लगा दिये। कालिदास ने शकुन्तला, विक्रमोर्वशी, मालविकाग्निमित्र तीन नाटक और रघुवंश, मेघदूत और कुमारसंभव तीन काव्य लिखे हैं। नाटकों में शकुन्तला अत्यन्त लोकप्रिय है और यह माना जाता है कि इसका अध्ययन प्रत्येक संस्कृत भाषी विद्वान के लिए अनिवार्य है। इस समय विश्व की लगभग समस्त मुख्य भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है। इसमें शकुन्तला और दुष्यन्त की प्रेमपूर्ण कथा है। विक्रमोर्वशी में विक्रम और उर्वशी तथा मालविकाग्निमित्र में मालविका और अग्निमित्र की प्रेम कथायें हैं। उनके काव्यों में रघुवंश में महाराज दिलीप से लेकर भगवान राम तक का सुन्दर वर्णन है और बाद में राम के विरह में अयोध्या की स्थिति का मर्मस्पर्शी चित्रण है। मेघदूत में यक्ष और यक्षिणी (उसकी पत्नी) के विरह का सुन्दर चित्रण है जिसमें यक्ष मेघ के माध्यम से अपनी विरह कथा और संदेश अपनी प्रियतमा के पास भेजता है और अलकापुरी का मार्ग बताता है। यह बहुत सुन्दर रचना है। कुमारसंभव में शिव-पार्वती और स्वामी कार्तिकेय के जन्म का वर्णन है। इसमें असुरों का संहार और शिव-पार्वती वार्त्ता बहुत सुन्दर लिखी गई है। इन ग्रन्थों में जैसे ऊँचे भाव हैं भाषा भी उन्हीं के अनुसार सरल अथवा गम्भीर, परिष्कृत और काव्यमयी बन गई है। वास्तव में कालिदास कवि शिरोमणि थे। भास भी इस युग का उत्तम नाटककार और कवि था। विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस', भारवि का 'किरातार्जुनीय' और शूद्रक का 'मृच्छकटिका' भी तत्कालीन साहित्य के महत्त्वपूर्ण रत्न हैं। इन सभी साहित्य-कारों द्वारा भारत का तत्कालीन युग साहित्य का स्वर्णकाल कहा जाता है।

कला के क्षेत्र में स्थापत्यकला, वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, ललितकला तथा संगीत कला आदि में भी सर्वांगीण उन्नति हुई थी। अशोक के समय के स्तम्भ जो एक ही पत्थर पर बनाये गये हैं, उनकी कला आज भी मनुष्य को आश्चर्यान्वित करने में सफल हैं। उनकी चिकनाई नकली पालिश की भाँति दिखाई पड़ती है जिसमें देखने वाले की प्रतिच्छाया भी दिखाई देती है। ये बहुत भारी और लम्बे हैं। कई एक स्तम्भ पचास फीट तक ऊँचे और १३५० मन तक के भारी हैं। स्तम्भों के तीन भाग होते हैं—भूगर्भ भाग, तना और शीर्ष भाग। प्रथम भाग भूमि में गड़ा होता था, दूसरा भाग उससे ऊपर और तीसरा उससे भी ऊपर होता था। शीर्ष भाग या शिखर में सिंह, घोड़ा, अथवा बैल आदि के चित्र खुदे हैं। बुद्ध धर्म का प्रतीक चक्र भी उसमें अंकित है। ये चतुर्सिंह और धर्म चक्र अब हमारा राष्ट्रीय चिन्ह स्वीकार किया गया है। इन पशुओं के चित्रों में वास्तविक गति और वेग दिखाया गया है। इसी प्रकार अशोक के राजप्रासाद भी विलक्षण ढंग से बने हुए हैं। स्तूप का तोरण और शिखर भी प्रशंसनीय है। इसी के साथ मूर्तिकला का

विकास भी असाधारण रूप में हुआ था। देवी देवताओं की मूर्तियाँ बनाने की साधारण प्रथा सी बन गई थी। गुप्तकाल में भी यह कला उन्नत थी किन्तु उसके बाद मुसलमानों ने धर्म के नाम पर समस्त धार्मिक स्थानों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इस समय सभी धर्मों के अन्तर्गत मूर्तियाँ बनी थीं। पुरुष, स्त्रियाँ, पशु, लता, पुष्प और देवी देवताओं की अनेक भावभंगिमों में मूर्तियाँ बनाई गई थीं। इसी प्रकार उनके आकार प्रकार आदि भी भिन्न-भिन्न होते थे। देवताओं में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, जैन तीर्थंकर तथा देवियों में दुर्गा, उमा, सरस्वती आदि की प्रतिमायें मुख्य थीं। झांसी में देवगढ़ ग्राम का विष्णु मन्दिर, कानपुर में मिटार गाँव का विशाल मन्दिर, मध्यप्रदेश में भुमरा का शिव मन्दिर, सारनाथ के स्तूप आदि तत्कालीन कला कृतियों के अनुपम उदाहरण हैं।

चित्र कला के क्षेत्र में प्रगति उल्लेखनीय हुई थी। गुहा भवनों का निर्माण और फिर उनमें भित्ति चित्रों की सजावट तत्कालीन कला-प्रियता का सुन्दर उदाहरण है। अजन्ता की गुफाओं में चित्रकला का अटूट भण्डार है। इनमें २४ विहार और ५ चैत्य हैं। लगभग तेरह की दीवारों, छतों और स्तम्भों पर आकर्षक चित्र अंकित हैं। उनकी विलक्षण मुद्राएँ, भाव, शारीरिक अंगों का प्रदर्शन, केश-विन्यास, वस्त्रा भूषण आदि देखते ही बनता है। उनके समक्ष संसार के अन्य देशों के चित्र फीके पड़ जाते हैं। तत्कालीन स्वर्णमुद्राएँ भी कला से प्रभावित हैं। उनका निर्माण कलामय ढंग से हुआ है यह प्रकट होता है। सम्राट, अश्व, वेदी आदि कई प्रकार के चिन्ह मुद्राओं पर सजीव रूप में अंकित किये गये हैं। इसी के साथ संगीत विद्या का विकास भी हुआ था। समुद्रगुप्त की एक प्रकार की मुद्रा में वीणा का चित्र भी दिया गया है। इससे प्रकट होता है कि वह संगीत प्रेमी था। राज-घरानों में संगीत का प्रचार भी अधिक था, वाद्य यंत्र भी कई प्रकार के थे। किन्तु वीणा आदि यंत्रों से यह भी सिद्ध होता है कि यह कला जन साधारण के वश की चीज नहीं थी। सम्भव है संगीत आदि कलायें केवल उच्च कुलीन और समृद्धिशाली लोगों तक ही सीमित थी। इस प्रकार भारतीय सभ्यता के स्वर्णकाल में साहित्य और कला की उत्कृष्ट उन्नति हुई थी, यह सिद्ध होता है।

विज्ञान की प्रगति—इसी युग में विज्ञान का क्षेत्र भी अनुन्नत नहीं रहा विशेषतः गणित और विज्ञान की तो बहुत ही उन्नति हुई। आर्यभट्ट और वराहमिहिर इसी युग में अवतरित हुए हैं। वराहमिहिर के ज्योतिष ग्रन्थ 'पंच सिद्धान्तिका', तथा वृहज्जातक, वृहत् संहिता, लघु जातक आदि और आर्य्यभट्ट का गणित ग्रन्थ 'आर्य्यभट्टीय' आज भी बहुत महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। गणित के क्षेत्र में वृत्त, त्रिकोण, शून्य, अंकों का (१ से ९ तक) प्रयोग और रेखागणित, बीजगणित आदि का विस्तार और आविष्कार इसी समय में हुए हैं। यहीं से अंक पद्धति पहले पश्चिमी एशिया और बाद में यूरोप में पहुँची। इसी प्रकार आयुर्वेद के क्षेत्र में भारतवर्ष ने बहुत उन्नति की थी। चरक और सुश्रुत दोनों इसी समय उत्पन्न हुए थे। इन्होंने आयुर्वेद पर 'चरक संहिता' (चरक द्वारा) और 'सुश्रुत संहिता,

(सुश्रुत द्वारा) बहुत सुन्दर और विलक्षण ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें रोग के निदान से लेकर उसके उपचार, शल्य चिकित्सा, औषधि उसके गुण और प्रभाव आदि समस्त विषयों का विवरण है। यह ईसा की लगभग दूसरी शताब्दी से प्रयोग आया और अठारहवीं शताब्दी तक समस्त विश्व में अत्यधिक सफल और सुगम चिकित्सा पद्धति के रूप में चलता रहा। कालान्तर में इसी क्षेत्र में इस पद्धति का विकास हुआ और अनेक ग्रन्थ भी लिखे गये। विभिन्न धातुओं के संसर्ग से पारे को रस में बदलना और धातुओं की भस्म बनाना भी इसी समय आरम्भ हुआ। इससे यह प्रकट होता है कि भारतीय लोग किसी भी क्षेत्र में सन्तोषी होकर शान्त नहीं बैठे रहते थे वरन् प्रत्येक क्षेत्र में नये नये आविष्कार करते रहते थे और बहुत अधिक चतुर, वैज्ञानिक और परिश्रमशील थे। यह समस्त उन्नति भारत की सभ्यता के स्वर्णकाल की ही मानी जाती है। इनमें से अनेक बातें आज भी मनुष्य के लिए कौतूहल पैदा करने में सफल हो जाती हैं। वास्तव में विज्ञान का चमत्कार सदैव से इसी प्रकार रहा है।

धार्मिक प्रगति—धार्मिक क्षेत्र में सनातन धर्म और बौद्ध धर्म का संघर्ष केवल प्रारम्भ में रहा। कालान्तर में दोनों धर्मों का समन्वय हो गया और फिर ब्राह्मण धर्म ही बढ़ने लगा, ऐसा प्रतीत होता है। पुनः यज्ञ, बलि, श्राद्ध आदि प्रभावशाली होने लगे और देवी देवताओं की मान्यता बढ़ने लगी। प्रत्येक देवता का अलग मन्दिर बनने लगा। एक प्रकार से धर्म का रूपान्तर हो गया। यज्ञ का स्थान धीरे-धीरे भक्ति ने लेना आरम्भ कर दिया। देवताओं के रूप भी बदलने लगे और उनकी उपासना पद्धति भी। मनोवाञ्छायें पूर्ण करने के लिए देवताओं से याचना की जाती थी और उन्हें प्रसन्न करने के उपाय भी किये जाते थे। धार्मिक ग्रन्थों की युगानुसार रचना हुई और प्राचीन ग्रन्थों में संशोधन भी किए गए। भारतीय धर्म इस प्रकार समयानुकूल बनता गया। फिर भी यह कह सकते हैं कि प्रमुख विशेषतायें और मुख्य आधार वे ही, बने रहे। उदाहरणार्थ—ब्रह्मा, विष्णु, महेश और कुछ देवियों की मान्यतायें पूर्ववत् चलती रहीं। भगवान के अनेक रूपों का वर्णन किया गया। शेष शय्या पर भगवान का शयन और उनकी नाभि से ब्रह्मा की उत्पत्ति और ब्रह्मा द्वारा सृष्टि का सृजन आदि विश्वास प्रचलित रहे। गीता जी का 'यदा यदा ही धर्मस्व' में दृढ़ विश्वास होने लगा। भगवान के अनेक अवतार राम, कृष्ण, नृसिंह, वामन, कश्यप, मत्स्य, वराह आदि की मान्यता बढ़ी। अठारह पुराणों का नया संस्करण हुआ। परन्तु देवताओं में से अन्त में 'त्रिमूर्त्ति' ही लोकप्रिय रही और इसमें से भी शिव अत्यधिक लोकप्रिय बन गये। समस्त भारत के कोने-कोने में नगर, पहाड़ी, मार्ग आदि सभी स्थानों पर शिव मन्दिर पाये जाते हैं। ब्रह्मा की पूजा कम हुई। इस समय ब्रह्मा के मन्दिर केवल इने गिने हैं। 'विष्णु' भी 'शिव' के बाद लोकप्रियता में दूसरा स्थान पाते हैं। धीरे-धीरे अन्य देवी देवताओं की भी उपासना होने लगी। देवी के भी अनेक रूप हैं कुछ देवों की गृहिणी हैं और कुछ कुमारियाँ हैं। इनमें पार्वती, दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती आदि हैं इनके वाहनों की

विचित्रता भी ध्यान देने योग्य है। शिवजी का नन्दी (वृषभ), विष्णु का गरुड़ और दुर्गा का सिंह अधिकांश लोकप्रिय है।

ब्राह्मण धर्म के प्रभाव से बौद्ध और जैन धर्म में भी दैव और देवियाँ प्रकट हो गईं। प्रतिमायें बनने लगीं और पूजा आरम्भ हो गई इस प्रकार सभी धर्मों के अनुयायी अपनी सुविधानुसार विभिन्न देवताओं में श्रद्धा करने लगे और उन्हीं की उपासना द्वारा अपने कार्यों की सिद्धि की अपेक्षा करते थे। इसी प्रकार तीर्थयात्रा की प्रथा भी लोकप्रिय बनी। शंकराचार्य द्वारा प्रसिद्ध महाकालों की स्थापना और बद्री विशाल, जगन्नाथपुरी, सेतुबन्ध रामेश्वरम् और द्वारिकापुरी चारों दिशाओं में चारों तीर्थों को मान्यता देकर तीर्थयात्रा की परम्परा को भारतीय जीवन का एक आवश्यक अंग बना दिया। तन्त्र-मन्त्र का विश्वास भी न्यूनाधिक प्रचलित रहा। इस युग की एक और बात जो ध्यान देने योग्य है वह है तत्कालीन शासकों और सम्राटों की उदारता। अशोक ने चाहे बौद्ध धर्म स्वीकार किया किन्तु उसने प्रजा पर यह धर्म थोपा नहीं। इसी प्रकार भारतवर्ष में कभी भी कोई राजधर्म नहीं रहा। अन्य धर्मों के प्रति सदैव ही उदारता की नीति अपनाई गई। धर्म के प्रति दमन नीति से भारत अपरिचित है। इसलिए यही कहा जा सकता है कि यहाँ धार्मिक प्रगति सदैव ही 'विश्व धर्म' की ओर होती गई और उसी का यह फल है कि धार्मिक सहिष्णुता भारतीय जीवन की एक सर्वोत्कृष्ट विशेषता मानी जाती है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. इस युग की साहित्य और कला की प्रगति का विस्तार से वर्णन कीजिये।

२. इस युग की वैज्ञानिक और धार्मिक उन्नति पर निबन्ध लिखिये।

—:०:—

बारहवाँ अध्याय

विदेशों के साथ साँस्कृतिक सम्बन्ध

प्रस्तावना—भारतीय सभ्यता के स्वर्णकाल में भारतवर्ष ने केवल राजनैतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में ही उन्नति की हो अथवा केवल बौद्धिक एवं सांस्कृतिक प्रगति से ही सन्तुष्ट रहा हो, ऐसा नहीं था। अपनी समृद्धि, क्षमता और कर्त्तव्य दृष्टि से प्रेरित होकर भारतीय नागरिक विदेशों की ओर भी गये और समय तथा स्थिति के अनुसार राज्य, उपनिवेश या व्यापार स्थापित किया। साथ ही साथ मातृ-भूमि का स्नेह बराबर बनाये रखने के लिए, इन्हीं लोगों ने अपनी संस्कृति के सभी महत्वपूर्ण तत्वों को अपने जीवन का अंग भी बना लिया। बहुत बड़ी संख्या में इन्हीं के साथ ऐसे लोग भी गये जिनका एक मात्र उद्देश्य धर्म प्रचार, संस्कृति विस्तार, जन सम्पर्क वृद्धि अथवा सभ्यता प्रदान करने का था। इन्हीं के साथ भारतीय परम्पराएँ, रीति-रिवाज, भाषा, साहित्य और संस्कार भी विदेशों में पहुँचे थे। वर्त्तमान समय में विभिन्न स्थानों पर अनेक ऐसे अवशेष प्राप्त हुए हैं जैसे मन्दिर, शिलालेख, नाम, भाषा, ग्रन्थ आदि जिनसे उन स्थानों का भारतवर्ष से सम्बन्ध सिद्ध होता है। यही इस बात के प्रमाण हैं कि भारत के विदेशों के साथ अच्छे गहरे साँस्कृतिक सम्बन्ध रहे हैं। अब इसी विषय का हम अध्ययन करेंगे।

भारतवर्ष की स्थिति—सभ्यता और संस्कृति के विकास की दृष्टि से भारतवर्ष का अत्यन्त सभ्य और संस्कृत देश होना अनिवार्य था। हम पूर्व के अध्यायों में यह देख आए हैं कि सभ्यता नदी की घाटियों में विकसित हुई थी। भारतवर्ष इस दृष्टि से पूर्ण रूपेण नदियों का ही देश है। सिन्धु की घाटी, गंगा यमुना की घाटी, ब्रह्मपुत्र की घाटी, कृष्णा गोदावरी की घाटी आदि सर्वत्र सरिताओं का प्रसार है, इसलिए नदीकालीन सभ्यता की दौड़ में भारतवर्ष अवश्य अग्रणी रहा है। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष की साधारण भौगोलिक स्थिति भी बहुत अनुकूल थी। क्षेत्रफल का दृष्टि से देखा जाय तो भारतवर्ष तत्कालीन युग में बहुत बड़ा राज्य था। मार्गों की दृष्टि से देखा जाय तो इसे जल और स्थल दोनों मार्गों की सुविधा थी। पड़ौस की दृष्टि से देखा जाय तो किसी एक ही ओर के देशों पर इसे निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं थी वरन् चारों ओर के देशों से समीप था और इन सबसे अधिक विशेष महत्त्व की बात थी भारतवासियों की समृद्धि और उसके साथ सहिष्णु धर्म धारणायें। इन विशेषताओं के कारण ये किसी का सचमुच शोषण नहीं करते थे। अपनी समृद्धि से दूसरों को सांसारिक दृष्टि से सुखी बनाना चाहते थे और इसके साथ सरल और सत्य धर्म की शिक्षा का उदारतापूर्वक पुट उनके सौजन्य के सुवर्ण को सुगन्धिमय बना देता था। यहाँ के शिल्पी और कलाकार जाकर दूसरों देशों को कला केन्द्र बनाने में जुट जाते थे। इसलिए एक भी घटना ऐसी ज्ञात नहीं है जहाँ भारतवासियों

का विरोध हुआ हो या इन्होंने बलपूर्वक अपने को बसाया हो, राज्य स्थापित किया हो। यह है भारतीय स्थिति जो विदेशों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्धों के लिए उत्तरदायी है।

विदेशों के साथ सम्बन्ध मार्ग—वैसे तो रामायण आदि के प्रसंगों से यह प्रकट होता है कि वायु मार्ग भी भारतवर्ष में प्रयुक्त होते थे और हमारे देवताओं के वाहन, जैसे विष्णु का वाहन, गरुड, भी इसी ओर संकेत करते हैं, किन्तु फिर भी ठोस प्रमाण के अभाव में हम उसे नहीं मानें तो भी जल और स्थल मार्ग दोनों भारतीय सभ्यता के प्रसार के लिए खुले हुए थे। स्थल मार्ग में खैबर और बोलन के दर्रे और ब्रह्मपुत्र की घाटी तीनों मार्ग प्रधान थे। इन्हीं की सहायता से उत्तर और पश्चिम के प्रदेशों में पहुँचा जाता था। व्यापार भी इन्हीं मार्गों से होता था और पड़ोसी देशों जैसे गान्धार, तुर्किस्तान, अफगानिस्तान, तिब्बत, चीन, जापान आदि में इन्हीं मार्गों से पहुँचते थे। धर्म प्रचारक और साहित्यकार इन देशों में जाकर वहीं बस जाते थे परन्तु मातृ-भूमि के स्नेह के कारण अपना आने जाने का सम्बन्ध बनाये रखते थे। वे लोग वहीं अपना उद्यम, अध्ययन, अध्यापन अथवा व्यवसाय करने लगते थे। पूर्व की ओर ब्रह्मपुत्र के मार्ग से लोग चीन और दूसरे पड़ौसी देशों में पहुँचते थे। यही नहीं जलमार्ग का उपयोग भी बहुत हुआ था। समुद्र पार निकटस्थ अथवा दूरस्थ देशों के साथ जलमार्ग द्वारा ही सम्बन्ध हो सकता था। इसका प्रयोग भारतवासियों ने बड़ी तन्मयता से किया था। उस समय अनेक प्रसिद्ध बन्दरगाह बने हुए थे जैसे गोपालपुर (पूर्वी तट), भृगुकच्छ (पश्चिमी तट), ताम्रलिप्ती (बंगाल) आदि, जहाँ से जलयान नियमित रूप से आते जाते रहते थे। यहीं से भारतीय लोग पूर्वी द्वीप समूह, कम्बोडिया, जापान आदि देशों में पहुँचते थे। लंका होकर और अरबसागर या बंगाल की खाड़ी को पार करके मिस्र, मेसोपोटामिया, यूनान आदि यूरोपीय देश और यहाँ तक कि दक्षिण अमेरिका में भी भारतवासी लोग पहुँच गये थे। यद्यपि निश्चित प्रमाण तो नहीं है, किन्तु यह कहा जा सकता है कि स्थल मार्गों की अपेक्षा जलमार्ग अधिक उपयोग में आये और सुविधाओं की दृष्टि से भी सुखदायक सिद्ध होते थ। इसीलिए दूर-दूर तक भारतीय संस्कृति विस्तृत हो सकी और विदेशों से सम्पर्क स्थापित हो सके थे।

भारतवर्ष की महानता—जब तक किसी देश में वास्तविक महानता न हो वह दूसरे देशों की सीमाओं में प्रवेश करने योग्य नहीं हो सकता। पिछले युग में इंगलैण्ड प्रत्येक दृष्टि से महान् था इसीलिए वह इतना बड़ा साम्राज्य बना सका था जिसमें सूर्यास्त नहीं होता था। इस दृष्टि से तत्कालीन भारत की महानता भी निर्विवाद रूप से मानी जाती है। सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनैतिक दृष्टि से भारत विश्व का अग्रणी देश था। आध्यात्मिक क्षेत्र में भारतवासी पहुँचे हुए थे साथ ही सांसारिक दृष्टि से कर्मठ और निष्प्रयोजन भी थे और अपने इन अनुभवों को दूसरों के पहुँचाने की उत्कण्ठा भी उनमें जागृत हो चुकी था। अर्थात् अपने अनुभवों से शेष मानव समुदाय को लाभान्वित करने की भावना से वे प्रेरित थे। इसलिए इस

प्रयास में भारत के नर-नारी, राजा-रंक, व्यापारी वर्ग, साधु-सन्त, विद्वान-गुणी, कलाकार, शिल्पकार, चिकित्सक, चित्रकार आदि सभी लोग सामर्थ्य के अनुसार लग गये और विदेशों में पहुँचकर अपने स्वाभावानुसार उद्यम करने लगे। अपने निकट के स्थान, पर्वत, सरिताएँ, नगर आदि को भारतीय नाम देकर वहाँ भी भारतीय संकृति की स्थापना और प्रतिष्ठा कर दी। यह उनकी दूरदर्शिता और मातृ-प्रेम की गहराई का सीधा सच्चा प्रमाण है। ऐसे कौन-कौन से देश और प्रदेश है जिनके साथ हमारे सांस्कृतिक सम्बन्धों के प्रमाण उपलब्ध हैं और जहाँ भारतीय संस्कृति की छाप अंकित हो चुकी थी, अब क्रमशः हम उनका ही अध्ययन करेंगे।

लंका से सम्बन्ध—प्राचीन समय से लंका के साथ भारत का सम्बन्ध गहरा रहा है। यदि परम्परा के अनुसार समझा जाय तो यह घनिष्ठता अति प्राचीन है। सम्राट अशोक के समय बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए भारतवासी लंका भी गये थे, यह तो ऐतिहासिक सत्य है। यह भी सच है कि बौद्ध धर्म का प्रचार लंका में बहुत हुआ था और इस समय भी वहाँ का प्रमुख धर्म है। बौद्ध धर्म के प्रभाव से ही लंका में पाली भाषा और ब्राह्मी लिपि का प्रसार हुआ। यह तो हम सब जानते ही हैं कि लंका को हमारे यहाँ सिंहल द्वीप कहते हैं और पौराणिक दादी नानी की कहानियों में आजकल भी कोई न कोई राजकुमार सिंहल द्वीप की राजकुमारी के स्वरूप की प्रशंसा सुनकर मुग्ध होता या उससे विवाह करता हुआ सुना जाता है। यह भी प्रचलित है बंगाल के एक राजकुमार विजय ने, जो बहुत शक्तिशाली था लंका पर विजय प्राप्त की थी और बाद में अपना राज्य भी स्थापित किया था इस घटना का चित्रण भारतवर्ष में कई स्थानों पर मिलता है, जैसे अजन्ता की गुफा में, जयपुर के अजायबघर में आदि। इस प्रकार राजनैतिक प्रभाव भी लंका पर रहा था और धीरे धीरे साहित्य, कला, धर्म, विज्ञान सभी क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति की छाप लंका पर जम गई थी। जो अभी तक स्पष्ट दिखाई देती है। वहाँ के मन्दिरों की बनावट, शिलालेख, मूर्ति कला, ग्रन्थ आदि इस निकट सम्बन्ध के उज्ज्वल प्रतीक हैं।

ब्रह्मा से सम्बन्ध—दूसरा निकटस्थ पड़ोसी देश ब्रह्मा है। इसे पहले गन्धार नाम से पुकारते थे और लगभग तेरहवी शताब्दी तक यह नाम प्रचलित रहा। इस देश में अधिकांश बंगाल और बिहार के निवासी भारतीय गये थे। इस देश का दूसरा नाम 'स्वर्ण-भूमि' भी है। यहाँ भी व्यापार वृद्धि और धर्म प्रचार दोनों उद्देश्यों से भारतवासी गये थे। बौद्ध भिक्षुओं ने ब्रह्मा में अपना धर्म प्रचार अत्यधिक किया और लगभग सम्पूर्ण ब्रह्मा पर बौद्ध धर्म का प्रभाव जमा दिया। इससे पूर्व भी भारतीय सभ्यता का प्रभाव ब्रह्मा पर रहा है; क्योंकि तत्कालीन विष्णु की प्रतिमायें भाषा के ग्रन्थ, वैदिक धर्म का प्रभाव और लिपि आदि पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। फिर अंग्रेजों के समय में तो ब्रह्मा और भारतवर्ष एक ही छत्र के आधीन रहकर और भी निकट आ गया और अभी तक अपने विभिन्न क्षेत्रों में ब्रह्मा और भारत मिल जुल कर सच्चे पड़ौसी राष्ट्रों की तरह रह रहे हैं। वास्तव में हमारी आज की घनिष्ठता का आधार हजारों वर्ष प्राचीन हमारी संस्कृति की

निकटता और गहरा सम्पर्क ही है।

चीन से सम्बन्ध—चीन और भारत के सम्बन्ध भी प्राचीन हैं। ऐतिहासिक प्रमाण बौद्ध धर्म के प्रसार के समय से तो स्पष्ट ही प्राप्य हैं किन्तु इससे पूर्व भी गहरा सम्बन्ध रहा है इसके अनेक प्रसंग उपलब्ध होते हैं। कश्यप मातंग और धर्म रत्न दोनों बौद्ध भिक्षु चीन में धर्म प्रचार के उद्देश्य से गये और वहीं बस गये। इसी क्षेत्र में व्यापक कार्य करने की दृष्टि से उन्होंने अपने धर्म ग्रन्थों का अनुवाद चीन की भाषा में किया और चीन निवासियों के लिए बौद्ध धर्म सुगम बना दिया। इस प्रकार लगभग ३५० धर्म की पुस्तकों का उल्था किया गया था। चीन निवासी बौद्ध धर्म के द्वारा पूरी तरह प्रभावित हो गये थे। यही कारण है कि उनकी गहरी श्रद्धा होने के कारण, आवागमन की अनेक कठिनाइयाँ होते हुए भी फाह्यान, ह्वेनसांग, इत्सिंग आदि विद्वान महात्मा भारतवर्ष में आए और स्वयं प्रत्येक चीज का अध्ययन कर संतोष किया। यही नहीं इसी धार्मिक घनिष्ठता के फलस्वरूप व्यापारिक और अन्त में राजनैतिक सम्बन्ध भी चीन के साथ बन गए। जल और स्थल दोनों मार्गों का पूर्ण उपयोग किया गया। राजनैतिक क्षेत्र में राजदूतों का आदान प्रदान होने लगा। परस्पर यात्रियों को आने जाने की सुविधाएँ दी जाने लगीं। उन लोगों की लिखी हुई स्मृतियाँ आज अत्युत्तम प्रमाण हैं जिसके आधार पर भारत और चीन अपने प्राचीन सम्बन्धों की सीमा समझ सकते हैं। राजनैतिक क्षेत्र में प्रतिनिधि संस्थाएँ, निर्वाचन पद्धतियाँ, मतपत्र आदि चीन और भारत में एक ही प्रकार से विकसित हुए और उपयोग में आए हैं। अफीम की उपज भारतवर्ष में अत्यधिक होती थी और चीन में अत्यधिक उसका प्रयोग होता था। जब फाह्यान वापस गया तो लगभग सौ भारतवासी उसके साथ जहाज में चीन गए थे। यह भी गहरे सम्बन्धों का ही प्रतीक है। इसमें तो सन्देह नहीं है कि भारतीयता चीन में जाकर प्रत्येक क्षेत्र, धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, दार्शनिक आदि में रूपान्तरित हुई किन्तु उस पर भारतीयता का प्रभाव स्पष्ट रूप में रहा यह भी सत्य है। इस प्रकार चीन और भारत में गहरे सम्बन्ध रहे हैं।

पूर्वी द्वीप-समूह (हिन्देशिया Indonesia) से सम्बन्ध—प्राचीन पूर्वी द्वीप समूह का अब आधुनिक नाम हिन्देशिया है। इसमें मुख्य रूप में जावा, सुमात्रा, बाली, बोर्नियो आदि के साथ प्राचीनकाल में विशेष सम्बन्ध रहा है। जिसके फलस्वरूप वहाँ के नर-नारी और नगरों के नाम, मूर्तियाँ, भाषा, ग्रन्थ तथा परम्पराओं आदि पर भारतीय प्रभाव प्रकट होता है। इसी का संक्षिप्त अध्ययन हम यहाँ करेंगे।

चम्पा (अनाम)—यह नाम उस प्रदेश का था जिसे अब अनाम कहते हैं। यहाँ पर भारतीय लोग जाकर बस गए और बाद में अपना राज्य भी स्थापित कर लिया। लगभग प्रथम से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक यह राज्य चलता रहा। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यहाँ के शासक बिहार के राजवंश से सम्बन्धित थे और उन्होंने ही यह राज्य स्थापित किया था। अमरावती चम्पा की राजधानी थी।

तत्कालीन राजाओं के नाम पूर्णरूप से भारतीय थे जैसे जयपरमेश्वर देव वर्मा, इन्द्रवर्मन, हरिवर्मन आदि जयपरमेश्वर ने तो ब्रह्मा की प्रतिमा बनवाई थी और उसके राजकुमार और सेनापति ने प्रतिमा की पूजा प्रतिष्ठा कर भूमि दान किया था। अभी वहाँ अनन्तशायी विष्णु की एक प्रतिमा भी मिली है। धीरे धीरे यह राज्य निर्बल हो गया और मुसलमानों के आक्रमण होने लगे और अन्त में यहाँ इस्लाम का प्रभाव अधिक हो गया। फिर भी भारतीय सभ्यता का प्रभाव समूल नष्ट नहीं किया जा सका। तेरहवीं शताब्दी में चम्पा की एक महारानी थी, उसका नाम गौड़ेन्द्र-लक्ष्मी था। यह महिला बंगाल के गौड वंश की राजकुमारी थी ऐसा लगता है क्योंकि उपनिवेशों में जाकर राज्य स्थापित कर लेने पर भी अपने सम्बन्ध बनाए रखने और वंश की शुद्धता रखने की दृष्टि से ये प्राचीन भारतवासी अपने विवाह सम्बन्ध आदि भारतवर्ष में ही आकर करते थे, यह रिवाज सदैव से ही रहा है। इस समय भी अनेक भारतवासी विशेषकर पंजाबी और मारवाड़ी लोग हिन्देशिया में हैं किन्तु वे सब शादी विवाह भारतवर्ष में ही आकर करते हैं। इसके अतिरिक्त वहाँ पर प्राप्त शिलालेख संस्कृत भाषा में लिखे हुए मिले हैं। इसका अर्थ है कि इन उपनिवेशों में संस्कृत भाषा का बहुत प्रचार था, राज-काज में, अध्ययन-अध्यापन में यही भाषा प्रयोग में लाई जाती थी। समस्त ग्रन्थ, काव्य आदि इसी भाषा में लिखे जाते थे। इस प्रकार भारतीय संस्कृति का प्रभाव यहाँ पर बहुत था यह सिद्ध होता है।

कम्बोज (कम्बोडिया)—इस प्रदेश को उस समय 'कम्बुज' या कम्बोज कहते थे। अब इसका नाम कम्बोडिया है। यह किंवदन्ती है कि दक्षिण के कौंडिन्य नामक ब्राह्मण ने यहाँ हिन्दू राज्य की स्थापना की थी। उस ब्राह्मण ने सोमा नामक नाग कन्या से विवाह किया था इसलिए इस वंश का नाम 'सोमवंश' कहते हैं। चीन के विद्वान इस राज्य का नाम फूनान कहते थे। कुछ विद्वानों की राय में यहाँ 'सोमवंश' का राज्य नहीं था, 'सूर्यवंश' का राज्य था और प्रथम शताब्दी से लेकर १५वीं शताब्दी तक चलता रहा है। यहाँ पर भारत के शैवधर्म का प्रभाव अधिक हुआ। शिवजी की प्रतिमा और लिंग दोनों ही रूपों में उपासना होती थी और पार्वती जी की पूजा भी उमा, भवानी, गौरी, दुर्गा आदि सभी रूपों में होती थी। भगवान विष्णु की मूर्तियाँ भी यहाँ प्राप्त हुई हैं इसलिए यह भी सच है कि वैष्णव धर्म भी यहाँ पहुँच चुका था और बौद्धधर्म तो आया ही था। हाँ, यह अवश्य लगता है कि इस प्रदेश में हिन्दू धर्म की प्रमुखता थी। धर्म के साथ साथ ही कला, भाषा और साहित्य भी यहाँ आया। यज्ञ आदि प्रचारित रहे। संस्कृत भाषा का अध्ययन लोक-प्रिय रहा। मन्दिरों का निर्माण हुआ और वास्तुकला की उन्नति हुई। यहाँ पर कुछ प्रतिमाएँ यम, वायु, अग्नि, सूर्य आदि की प्राप्त हुई हैं और कुछ मन्दिर अभी भी हैं जैसे अंगरकंरथार का मन्दिर आदि जो पूर्णरूपेण भारतीयता के प्रतीक हैं। चतुर्भुज ब्रह्म का स्तूप भारतीय कला का सुन्दर उदाहरण है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि कम्बोज पर भारतीय संस्कृति का बहुत प्रभाव था और इन दोनों में परस्पर गहरा सम्बन्ध रहा था।

मलाया—इसे भारत में मलय अन्तरीप कहा जाता था। यहाँ भी भारतवासी गए थे और अपना राज्य स्थापित किया था। आठवीं शताब्दी में शैलेन्द्र वंश ने यहाँ हिन्दू राज्य की स्थापना की थी और बाद में यही साम्राज्य बन गया था। इस साम्राज्य में आस-पास के सभी मुख्य प्रदेश जावा, सुमात्रा, बाली आदि सम्मिलित हो गए थे। भारतीय पद्धति के अनुसार यहाँ के शासक 'महाराज' आदि उपाधियाँ भी धारण करते थे। यहाँ बौद्धधर्म की महायान शाखा का अधिक प्रचार हुआ क्योंकि राजवंश का विश्वास इसी सम्प्रदाय में था। इस राजवंश ने मलय प्रायद्वीप में अनेक मन्दिर, मूर्तियाँ और स्तूप बनवाए और भारतीय संस्कृति के अमिट चिन्ह स्थापित किए किन्तु दुर्भाग्यवश लगभग तेरहवीं शताब्दी में यह वंश समाप्त हो गया और बाद में विभिन्न जातियों का अधिकार हो गया। किन्तु भारतीय सभ्यता का प्रभाव वहाँ बना रहा।

जावा—भारतवर्ष में इसे यवद्वीप कहते थे। जावा के सम्बन्ध में कई प्रकार की कहावतें और परम्पराएँ प्रचलित हैं। जावा में भी ऐसा कहा जाता है कि कलिंग तट से भारतवासी यवद्वीप गए और वहाँ बसकर द्वीप को आबाद कर दिया। यह भी प्रचलित है कि ईसा के पचहत्तर वर्ष बाद गुजरात के एक राजकुमार यवद्वीप पहुँचे और उन्होंने यवद्वीप को अपना उपनिवेश बना लिया। एक मुसलमान लेखक का विश्वास है कि उस समय यहाँ का राजा महाराज कहलाता था। अर्थात् उस समय यहाँ पूर्णरूपेण भारतीय प्रभाव स्थापित हो चुका था। बौद्धधर्म का प्रचार भी था और भारतीय लिपि भी प्रयोग में आती थी। राज्य कार्य भी संस्कृत और पाली में होता था। धार्मिक कार्यों में ब्राह्मणों को बुलाया जाता था। जावा की राज्य शक्ति धीरे-धीरे विकसित हुई और अन्त में मलाया पर भी आधिपत्य जमा लिया। तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सम्राट विजय ने एक नए राजवंश की स्थापना की थी। पहले हिन्दू धर्म और बाद में बौद्धधर्म का प्रसार हुआ। इस समय भी अनेक मन्दिरों के अवशेष, ग्रन्थों की प्रतियाँ और मूर्तियाँ आदि उपलब्ध हैं। रामायण और महाभारत यहाँ के अत्यधिक प्रिय महाकाव्य थे जो जन जन के मानस में अपना स्थान बनाए हुए थे। इस प्रकार जावा में भारतीय संस्कृति और सभ्यता का प्रसार रहा है।

मलक्का, बाली, बोर्नियो और फिलिप्पाइन्स—हिन्देशिया के शेष अन्य महत्त्वपूर्ण टापुओं में भी भारतीय सभ्यता का प्रभाव था। एक हिन्दू सामन्त ने १५वीं शताब्दी में मलक्का में अपना राज्य स्थापित किया और धीरे धीरे बहुत शक्तिशाली राज्य के रूप में विकसित कर लिया था। यह व्यापार का भी केन्द्र बन गया था। बाली में तो बहुत पहले लगभग छठी या सातवीं शताब्दी में ही हिन्दू राज्य के स्थापित होने की बात प्रचलित है और वहीं बौद्धधर्म का प्रचार भी हुआ था। आज कल भी बाली में भारतीय सभ्यता प्रसार है, यह गर्व का विषय है। इसी प्रकार अन्य कई स्थानों में जैसे बकनपुर (बोर्नियो) आदि जगहों पर हिन्दू धर्म का प्रभाव अब भी बहुत है। वहाँ का धर्म भारतीय धर्म के अनुरूप है। देवमंदिरों का रिवाज है और उनमें प्रतिमाओं की स्थापना होकर उनकी पूजा होती

है। वास्तुकला और चित्रकला में भी भारत की छाप है। इन स्थानों में एक शिलालेख मिला है जिसमें 'त्रिमूर्ति' ब्रह्मा, विष्णु महेश की स्तुति लिखी हुई है। और भी अनेक प्रकार की मूर्तियाँ आदि यहाँ मिली हैं जिनसे भारतीय सम्पर्क और निकटता सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त यहाँ के रहन-सहन, वेशभूषा, रीति-रिवाज, साहित्य-कला, भाषा और सामाजिक रूढ़ियों में भी भारतीयपन के स्पष्ट दर्शन होते हैं।

उपनिवेश और भारतीयता—उपरोक्त वर्णन में आए हुए पड़ौसी देश भारतीय उपनिवेश थे जहाँ भारतीय नागरिक अपने और वहाँ के नागरिकों का हित करने की दृष्टि से जाते थे किन्तु मातृ-भूमि का स्नेह निरन्तर बनाए रखते थे। लगभग इन सभी उपनिवेशों में संस्कृत भाषा का प्रसार था। संस्कृत ही पठन-पाठन, साहित्य सृजन तथा जनता के व्यवहार में आने वाली भाषा थी। तत्कालीन शिलालेख, धर्मग्रन्थ आदि सभी संस्कृत में ही लिखे जाते थे। वहाँ के देवी देवताओं की मान्यता भी भारतीय परम्परा के अनुसार ही थी। पौराणिक एवं बौद्धधर्म दोनों का प्रसार हुआ था। पौराणिक धर्म के अनुरूप ब्रह्मा, विष्णु और महेश की मान्यता थी तथा इन्हीं के साथ अन्य देवता भी पूज्य माने गये थे। जैसे शिव के साथ पार्वती, उनका नन्दी, गणेश, स्वामी कार्तिकेय आदि भी पूज्य थे इसी प्रकार विष्णु की पूजा होती थी; किन्तु इनके अवतारों का प्रचार अधिक था और उनमें भी राम और कृष्ण के रूप अधिक लोकप्रिय थे। चम्पा आदि स्थानों में राम लक्ष्मण आदि चारों भाइयों की पूजा होती थी। बाली द्वीप में रामायण ग्रन्थ भी उपलब्ध हुआ है। इन स्थानों में अन्य पौराणिक गाथाएँ भी बहुत प्रचलित रही हैं, भारतीय परम्पराओं की भाँति ही यहाँ भी राजा ईश्वर का अवतार समझा जाता था, कई शासक अपने आप को भगवान विष्णु का अवतार कहते थे। जैसे चम्पा, बाली, आदि के राजा यह प्रकट रूप से कहते थे कि हम विष्णु के अवतार हैं। इन देवताओं के वाहन भी भारतीय पद्धति के अनुरूप ही हैं केवल स्थान और काल के कारण कुछ परिवर्तन अवश्य हो गए हैं। कहीं कहीं विष्णु और शिव की तथा कहीं ब्रह्मा-विष्णु महेश तीनों की भी सम्मिलित मूर्तियाँ मिली हैं। यह भी प्राचीन भारत की परम्परा थी। 'सर्व-देव नमस्कारं' की भावनानुसार सभी देवता समान थे। यह भाव इन स्थानों में था इससे यही सिद्ध होता है। मन्दिरों का निर्माण भी हुआ है। धार्मिक ग्रन्थों में से रामायण, महाभारत और गीता की कुछ प्रतियाँ इन स्थानों में उपलब्ध हुई हैं। वे यह सिद्ध करती हैं कि इन स्थानों पर भारतीय सभ्यता का बहुत गहरा प्रभाव रहा है। मूर्तिकला और चित्रकला के क्षेत्र में भी ये प्रदेश प्रभावित हुए थे। परन्तु उनके स्पष्ट प्रमाण समय की गति के कारण नष्ट हो गये। इस प्रकार इन उपनिवेशों में भारतीय सभ्यता की जड़ें गहरी जमी हुई थीं जिनके कुछ अवशिष्ट प्रमाण वर्तमान काल में भी सर्वत्र मिलते हैं। सुकार्णो (सुन्दर कर्ण वाला), भण्डारनायक आदि नाम पूर्ण-रूपेण भारतीय हैं यह कभी भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

मध्य एशिया और पश्चिम के देश—भारतीय सभ्यता की प्रगति और विस्तार सर्वतोमुखी था। इसलिए अफगानिस्तान, बिलोचिस्तान, काशगर, खोकन्द (खोतान),

चीनी तुर्किस्तान आदि अनेक देशों में भी भारतीय सभ्यता का प्रसार हो चुका था। धर्म लिपि, संस्कृति, भाषा, कला आदि विभिन्न विशेषतायें ज्यों की त्यों इन देशों में पहुँची थी। लगभग ईसा की पाँचवी शताब्दी तक यह प्रभाव रहा। तत्पश्चात् दूसरी जातियों के आक्रमणों के कारण यह प्रभाव जाता रहा। मौर्य साम्राज्य के समय **अफगानिस्तान** आदि तो भारतवर्ष में ही समझे जाते थे और काबुल और कन्धार के नाम उस समय इतने लोकप्रिय थे जैसे आजकल कलकत्ता और काश्मीर। अफगानिस्तान के पास पश्चिम का भाग **'बेक्ट्रिया'** कहलाता था। उसमें भी भारतीय सभ्यता की गहरी छाप थी। विशेषतः बौद्ध धर्म का प्रभाव वहाँ अधिक था। **बिलूचिस्तान** में भारतीय क्षत्रिय ही राज्य करते थे। मुसलमानों के निरन्तर आक्रमणों से बचने के लिए फिर ये लोग भारत की ओर आ गए थे। **चीनी तुर्किस्तान** तो भारतीय संस्कृति का केन्द्र ही था। चीन की ओर जाने वाले मार्ग यहीं से जाते थे। इसीलिए भारतीयों ने सर्वत्र अपने मुकाम बना लिए थे। ब्राह्मण और भिक्षु लोग धर्म प्रचार के लिए जाते थे और वहीं बस जाते थे। धर्म के प्रचार के साथ-साथ ही स्वाभाविक रूप में साहित्य, कला और सभ्यता का प्रसार भी होता रहता था। **काशगर और खोतान** आदि देश लगभग पूर्णरूपेण भारतीय रंग में ही ढल गए थे। राजा को महाराज और पण्डित को पुरोहित कहने की परम्परायें भी वहाँ थी। तत्कालीन प्राप्त अवशेषों से ज्ञात होता है कि वहाँ संस्कृत और पाली भाषायें और ब्राह्मी लिपि का प्रचार था। वहाँ की ब्राह्मी लिपि भी विशेष ढंग की है जिसे बारहखड़ी पद्धति कह सकते हैं। पहले भारतवर्ष में भी बारहखड़ी पद्धति का प्रचार था और आजकल जैसे सर्वप्रथम वर्णमाला सीखी जाती है वैसे ही पहले बारहखड़ी सिखाई जाती थी। **खोतान** भी बुद्ध धर्म का मुख्य केन्द्र रहा है। वहाँ संस्कृत भाषा का प्रचार था और खरोष्टी लिपि व्यवहार में लाई जाती थी। यहाँ एक शिलालेख में शासक का नाम राजाधिराज देव विजितसिंह लिखा हुआ मिला है। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि किंवदन्ति के अनुसार महाराज अशोक के एक पुत्र विजितसम्भव ही थे जिन्होंने खोतान में अपने राज्य की स्थापना की थी। उसके बाद अनेक राजाओं के नाम के साथ विजित शब्द का प्रयोग होता रहा, जैसे विजितसिंह, विजित-कीर्त्ति आदि। यह राजवंश भी बुद्ध धर्म का ही अनुयायी रहा। इन्होंने भारतीय सभ्यता के प्रसार हेतु संस्कृत भाषा और साहित्य का प्रचार करने में सहायता दी, विद्यालय स्थापित करवाए। इस प्रकार के स्थानों में बौद्ध मूर्तियाँ, स्तूप, चित्र और बड़े-बड़े पुस्तकालय प्राप्त हुए हैं। विख्यात भारतीय कवि अश्वघोष के कई नाटकों की प्रतियाँ भी इन स्थानों में उपलब्ध हुई हैं। वास्तव में मध्य एशिया ऐसा स्थान रहा है जहाँ विभिन्न देशों की संस्कृतियाँ मिलती जुलती रहती हैं। इसीलिए भारतीय सभ्यता का प्रभाव भी इस क्षेत्र की सभ्यताओं पर पड़ा और दीर्घ काल तक रहा। **तिब्बत** सदैव से भारत और चीन के बीच का महत्वपूर्ण देश रहा है। चीन जाने के लिए और चीन से भारत आने के लिए तिब्बत ही मध्य में आता है। इसलिये बौद्ध धर्म का प्रचार करने जो लोग चीन जाते थे पहले मार्ग में

उन्हें तिब्बत आता था इसलिए बौद्ध धर्म का प्रभाव तिब्बत में बहुत अधिक है। व्यापारिक सम्बन्ध भी इसी कारण तिब्बत से अधिक घनिष्ठ रहे। वर्त्तमान समय में भी भारतीय प्रभाव बहुत था किन्तु अब साम्यवाद के विस्तार के कारण सब नष्ट-भ्रष्ट होता जा रहा है। इधर के प्रदेशों में **इची, करा** आदि अन्य भी कई विख्यात नगर थे जहाँ भारतीय संस्कृति की आशातीत उन्नति हुई थी। वहाँ अनेक भवन, विहार आदि थे तथा संस्कृत भाषा एक विशेष पद्धति, जिसे कालान्तर प्रणाली कहते हैं, से पढ़ाई जाती थी यहाँ बौद्ध धर्म के अनेक अति प्राचीन ऐसे ग्रंथ भी मिले हैं जो अब तक प्रकाश में नहीं थे। ज्योतिष, साहित्य, चिकित्सा, गणित आदि के ग्रन्थ भी उपलब्ध हुए हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि इन प्रदेशों में भारतीय सभ्यता घर कर गई थी और कई शताब्दियों तक उसका एकछत्र प्रभाव बना रहा था।

पश्चिमी देशों में भारतीय संस्कृति मुख्य रूप में व्यापारियों के द्वारा पहुँची। धर्म प्रचारकों के द्वारा नहीं। इसमें तो सन्देह नहीं है कि जब लोग भारत के सम्पर्क में आते थे तो एक बार तो वे मुग्ध हो ही जाते थे और भारतीयदर्शन, साहित्य, कला आदि के सम्मुख नतमस्तक होकर नमस्कार करते थे। जलमार्ग ही इन क्षेत्रों तक पहुँचने का सरल मार्ग था। स्थल मार्ग कठिन भी था और दीर्घ भी। **यूनान** और रोम तक भारतीय सामान जाता रहता था और अधिकांश जलमार्ग का ही उपयोग होता था। सिकन्दर के समय में यह सम्पर्क और भी बढ़ा और यूनान को प्रभावित किया। उन्होंने कर्मवाद और पुनर्जन्म के सिद्धान्त स्वीकार किए। इसके अतिरिक्त तक्षशिला में विद्याध्ययन के लिये अनेक विद्यार्थी भी आने लगे। इसी प्रकार रोम के साथ भी व्यापार हुआ। वहाँ भारतीय वस्त्र मलमल बहुत लोकप्रिय हुआ। वहाँ की स्त्रियाँ इसे बहुत पसन्द करती थीं। इसके अतिरिक्त हिन्देशिया से लाये हुये गरम मसाले और अन्य विलास की सामग्री भी यहाँ बहुत खरीदी जाती थी। यह व्यापार बहुत लाभदायक रहा। महात्मा ईसा ने स्वयं भारत की सीमा पर रहकर बौद्ध धर्म का अध्ययन किया था अपने ईसाई धर्म के प्रचार से पूर्व वह बौद्ध धर्म से प्रभावित भी बहुत हुआ था।

इस प्रकार पश्चिमी संसार भी भारतीय सभ्यता से प्रभावित रहा है। इन परिस्थितियों से यह भी अनुमान होता है कि वास्तव में आर्य लोग यहीं के निवासी थे और इसीलिये आर्य संस्कृति का इतना व्यापक प्रसार सम्भव हुआ है। हजारों वर्षों तक चलते रहने वाला यह सम्पर्क यही सिद्ध करता है कि ये सभी लोग आर्यों की सन्तान हैं और एक दूसरे से बहुत दूर होते हुये भी अनेकता में एकता के सिद्धान्त का ज्वलन्त उदाहरण है। एक ही जाति होने के कारण और अत्युत्तम संस्कृत सभ्यता होने के कारण अनेक उपनिवेश और राज्य बसाये और शेष क्षेत्रों में अपनी सभ्यता और संस्कृति का प्रसार किया, यह भारतवर्ष को सदैव गौरवान्वित करने वाली विशेषता है और इससे भी अधिक महत्व इस बात का है कि इस समस्त प्रसार और प्रभाव में शक्ति प्रयोग, दमन-नीति, शोषण वृत्ति, उच्चता के भाव आदि का कहीं लवलेश भी नहीं था। यदि कोई भाव थे तो वे भ्रातृभाव, मानव स्नेह

लाभान्वित करने की वृत्ति ग्रादि थे जो सदैव ही ग्रच्छी संस्कृति के उत्कृष्ट गुण माने जाते हैं। इसलिये भारतीय संस्कृति की विदेशों में स्थापना करना भारतवासियों के पुरुषार्थ ग्रौर साहस का फल है।

अभ्यास के लिये प्रश्न

१. मध्य एशिया ग्रौर पश्चिम के देशों पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव किस प्रकार हुग्रा—समझाकर लिखिए।

२. उपनिवेशों के साथ भारतीय सभ्यता के सम्पर्क ग्रौर उसके प्रभाव पर एक निबन्ध लिखिए।

३. भारतीय भाषा, धर्म कला ग्रौर सभ्यता के प्रमाण कहां २ किस रूप में प्राप्त हुए हैं टिप्पणियां लिखिए।

—:०:—

तेरहवां अध्याय

तुर्कों की भारतीय विजय और इस्लाम का प्रभाव

प्रस्तावना—हिन्दू राजाओं से बहुत समय शासित रहने के बाद भारतवर्ष पर तुर्कों के आक्रमण आरम्भ हुए और धीरे-धीरे वे लोग यहीं पर बसने लगे और अन्त में वे स्वयं भी भारतीय मुसलमान बन गए। जब ये आक्रमण आरम्भ हुए उस समय भारतवर्ष की राजनैतिक एकता नष्ट प्रायः सी थी। महाराजा हर्ष के देहावसान के पश्चात् अनेक समर्थ सामन्तों और प्रभावशाली व्यक्तियों ने अपने छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना कर ली थी और ये लोग परस्पर संघर्ष में व्यस्त रहने लगे थे। इसका फल यह हुआ कि किसी भी राज्य का स्वरूप, सीमा, व्यवस्था निश्चित नहीं थी और पड़ौसी देशों की दृष्टि इस प्राचीन सोने की चिड़िया पर लगी हुई थी। ऐसा अवसर पाकर मुसलमानों ने सर्वप्रथम आक्रमण किया और तब से निरन्तर कई आक्रमण हुए। इनका वर्णन अब किया जायगा।

अरब लोगों के आक्रमण—जिस समय भारतवर्ष में न्यूनाधिक अराजकता सी फैली हुई थी लगभग आठवीं शताब्दी का प्रारम्भ ही था। उस समय (७१२ ई०) खलीफा के सेनापति मुहम्मद बिन ने भारत पर आक्रमण किया और सिंध पर अपना आधिपत्य जमा लिया परन्तु इससे आगे बढ़ने में उन्हें राजपूत नरेशों की सजगता ने सफल नहीं होने दिया। वास्तव में अरब लोग बहादुर ही थे चतुर शासक नहीं। इसलिए वे सिंध प्रान्त में भी शासन व्यवस्था स्थिर नहीं कर सके। ऐसी दशा कुछ समय तक चलती रही और अन्त में दसवीं शताब्दी में सिंध का विभाजन हो गया और दो भिन्न भिन्न मुसलमान सम्प्रदायों के लोगों ने शासन चलाना आरम्भ किया। इस समय न तो और कोई बाहर के आक्रमण हुए और न भारतीय अन्य शासकों ने ही इस ओर ध्यान दिया। इसलिए तीन सौ वर्ष तक यह राज्य चलता रहा। इस प्रकार सिंध की विजय भारत में सर्वप्रथम विदेशी विजय थी। इसका राजनीतिक प्रभाव भयंकर हुआ। अन्य आक्रमणकारियों के लिए यह एक उदाहरण बन गया। राजस्थानी कहावत चरितार्थ हुई कि 'बुढ़िया के मर जाने का खेद उतना नहीं था जितना इस बात का कि मौत द्वार देख गई' सचमुच विदेशी आक्रमणों का इसके बाद से तांता ही लग गया था। अन्य क्षेत्रों में भी अरबों के साथ सम्पर्क का गहरा प्रभाव हुआ। परन्तु भारतवर्ष से अरब लोगों ने अधिक बातें सीखीं। भारतीय तत्त्व ज्ञान, गणित, ज्योतिष, साहित्य, प्राकृतिक विज्ञान और अन्य विषयों के अध्ययन से पश्चिमी एशिया में सांस्कृतिक पुनरुत्थान हुआ। यहाँ से इन्होंने शासन प्रबन्ध सीखा। व्यापारिक लाभ के लिए उन्हें भारतीय क्षेत्र की प्राप्ति हो गई। हिन्द महासागर पर उनका प्रभाव जम गया। भारत से आगे वे अब चीन तक जाने लगे और उनकी समृद्धि बहुत बढ़ गई। ये लोग भी प्रारंभ में अंग्रेजों की

भाँति शांतिपूर्ण ढंग से ही भारत आए थे और व्यापार ही आरम्भ किया था। परन्तु बाद में सिंधी शासकों की सहायता से जम गए और मसजिदें बनाईं, काजी नियुक्त किये। ये लोग अरब और अन्य मुस्लिम देशों से ही अपनी निकटता अनुभव करते थे। इसलिए थोड़े समय बाद जब अन्य मुस्लिम आक्रमण हुये तो ये लोग प्रसन्न होने लगे।

तुर्कों के आक्रमण—उपरोक्त अरब राज्य अधिक समय तक नहीं टिक सका। परस्पर राग द्वेष और अन्य दोषों के कारण जीर्णावस्था को प्राप्त होकर वह छिन्न-भिन्न होने लगा। इस समय पंजाब में ब्राह्मण शासकों का राज्य था। तुर्क लोगों ने सर्वप्रथम पंजाब पर ही आक्रमण किया और ब्राह्मण शासकों को वहाँ से खदेड दिया और अपना राज्य स्थापित किया। यह इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना है। अलपतगीन नामक तुर्क ने यह राज्य स्थापित किया और गजनी को अपनी राजधानी बनाया और फिर भी अपने राज्य विस्तार में व्यस्त रहा। सन् ९७७ ई० में उसके पुत्र सुबुक्तगीन ने जयपाल के राज्य पर चढ़ाई कर दी परन्तु युद्ध में हारने लगा। इस समय महमूद गजनी उसके पिता के साथ ही था। इस समय उसकी अवस्था पन्द्रह वर्ष की थी परन्तु उसका मस्तिष्क बहुत उर्वरा था। वह भारतवर्ष के रीति-रिवाजों से पूर्णतया परिचित था और भौगोलिक स्थिति का ज्ञान भी उसे बहुत था। उसने अपने पिता से प्रार्थना की कि युद्ध के बजाय युक्ति से काम लिया जाय और युद्ध स्थल से समीप जो एकमात्र जलस्रोत है उसको मद्य मिश्रित कर दिया ताकि ब्राह्मण विरोधी वर्ग जल न पियें और जब प्यास से व्याकुल होने लगें तब आक्रमण किया जाय। ऐसा ही किया गया और फलस्वरूप तुर्क लोग विजयी हुए परन्तु फिर भी जयपाल का राज्य चलता रहा। सुबुक्तगीन ने भारत पर अनेक आक्रमण किये थे। उसकी मृत्यु के पश्चात् महमूद गजनी ने भी भारत पर सोलह बार आक्रमण किये किन्तु स्थायी राज्य की नींव डालने में वह सदैव असफल रहा। सर्वप्रथम महमूद गजनी ने सन् १००१ में फिर जयपाल पर आक्रमण किया और उसे हरा दिया। जयपाल इस पराजय से इतना लज्जित हुआ कि उसने प्राणांत कर लिया। उसके पश्चात् उसका पुत्र आनन्दपाल राजगद्दी पर बैठा और महमूद ने भी उसे मान्यता दे दी किन्तु कुछ समय पश्चात् पुनः युद्ध हुआ और अन्त में पंजाब पर मुसलमानों का राज्य स्थापित हो गया।

इसी प्रकार गोर पर भी गजनी ने आक्रमण किया और वहाँ के हिन्दू राजा को हरा दिया। जनता का बल प्रयोग द्वारा धर्म परिवर्त्तन किया और अपने राज्य की सीमायें विस्तृत बनाने लगा। महमूद गजनी ने भारत को लूट लूट कर बहुत क्षति पहुँचाई। उसके नगरकोट, थानेश्वर, मथुरा, कन्नौज, ग्वालियर, कालिंजर आदि के प्रसिद्ध हमले हुए और सोमनाथ के मन्दिर पर किया गया आक्रमण अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और लोक विदित है। धर्म परिवर्त्तन करना, नगर जलाना, मन्दिर ढहाना, मूर्तियाँ खण्डित करना, और धन राशि बटोर कर ले जाना उसके मुख्य कार्य थे। इस प्रकार गजनी का समय चलता रहा और स्थायी राज्य स्थापित

नहीं कर सका। सन् ११९१ ई० शाहबुद्दीन गोरी ने उत्तरी भारत के एक बहुत बड़े प्रांत भाग को जीत कर अफगान सल्तनत की नींव डाली। इन आक्रमणों द्वारा महमूद के वंशज वहाँ से भाग निकले और इन्होंने गजनी को नष्ट कर दिया। इसके बाद उसने पृथ्वीराज चौहान के राज्य पर आक्रमण किया। अनेक बार हार कर अन्त में सन् ११९२ में वह विजयी हुआ और उसके पश्चात् लगभग २५ वर्ष में सम्पूर्ण उत्तर भारत पर अनेक आक्रमण किये और वहाँ अपना राज्य स्थापित किया परन्तु गोरी ने कोई खास नगर अपनी राजधानी बनाकर शासन चलाने का प्रयास नहीं किया और भारत के विजित प्रांतों को अपने सेनापति ऐबक के आधीन कर दिया। इस प्रकार सन् १३०० के लगभग समस्त भारत में मुसलमानों का आधिपत्य हो गया।

तुर्क अफगान सल्तनत—गोरी की मृत्यु के बाद सन् १२०६ में ऐबक कुतुबुद्दीन दिल्ली के सिंहासन का स्वामी बना और वह स्वतन्त्र शासक के रूप में कार्य करने लगा। इस समय तक सिंध, पंजाब, मगध, बंगाल और उत्तर प्रदेश आदि मुसलमानों के अधिकार में आ चुके थे और सन् १२०६ से लेकर १५२४ तक अफगानों का भारत पर अधिकार रहा। इस दीर्घकाल में अनेक सम्राट हुए और राजवंश भी परिवर्त्तित हुए। ऐबक कुतुबुद्दीन गोरी का गुलाम था इसलिए प्रथम वंश इतिहास में 'गुलाम वंश' कहलाता है। इस वंश में इल्तुतमिश तथा बलबन आदि महान् शासक हुए हैं। इन्होंने मंगोल आदि जातियों के आक्रमण से भारतवर्ष की रक्षा भी की है, किन्तु इसके अत्याचारों की भी सीमा नहीं थी। लगभग दो सौ वर्षों तक इन्होंने भारतवर्ष में खूब मनमानी की है। हिन्दू राज्यों को नष्ट करना, सोना चांदी एवं जवाहरात लूटना, स्त्री पुरुषों को गुलाम बनाना, विजित स्थानों पर कत्लेआम करना, मन्दिर और मूर्तियाँ ध्वंस करना, हिन्दुओं पर अनेक प्रकार के कर थोपना इनके साधारण कार्य थे। सन् १३०० के बाद इन्होंने अपना विस्तार दक्षिण में भी करना आरम्भ किया और चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ होते होते सम्पूर्ण भारतवर्ष पर मुसलमान छा गये। हिन्दुओं की हर प्रकार मुसीबत आ गई। धर्म, भाषा, साहित्य और संस्कृति सब संकटग्रस्त हो गये। इस प्रकार भारत पर मुस्लिम शासन स्थापित हुआ। पहले तुर्क और फिर अफगान लोगों ने यह कार्य किया। इन लोगों ने पांच वंशों (गुलाम वंश १२०६-९०), (खिलजी वंश १२९०-१३२०), (तुगलक वंश १३२०-१४१४), (सैयद वंश १४१४-१५२६), और (लोदी वंश १४१४-१५२६) ने भारत पर लगभग तीन सौ वर्षों तक राज्य किया। अफगान सुलतानों में अलाउद्दीन खिलजी का नाम उल्लेखनीय है। यही प्रथम मुस्लिम शासक था जिसने दक्षिण भारत पर सर्वप्रथम अपना अधिकार किया था। प्रशासनीय क्षेत्र में भी व्यवस्थित नौकरशाही की स्थापना का श्रेय इसी शासक को है। चौदहवीं शताब्दी के शासकों में मुहम्मद तुगलक (१३९४-१४१४) और फिरोज तुगलक के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके बाद तुगलक वंश का प्रभाव कम होने लगा। इस स्थिति से लाभ उठा कर भारत में पुनः अनेक राज्य स्थापित होने लगे। राजपूताने के शासक, दक्षिण में बहमनी राज्य

और विजयनगर राज्य आदि स्थापित हो गये और उत्तर भारत में भी बंगाल, गुजरात, खान देश, मालवा, काश्मीर आदि स्थानों पर मुसलमानों ने भी स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिए। इसके पश्चात् सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में (१५२६ ई०) में लोदी वंश के अंतिम शासक इब्राहीम लोदी को पानीपत के युद्ध में हरा कर बाबर ने भारतवर्ष में मुगल साम्राज्य की नींव डाली। यह वंश 'मुगल वंश' के नाम से विख्यात है।

मुगल वंश—सर्वप्रथम प्रसिद्ध मंगोल नेता चंगेज खाँ और तैमूरलंग ने भारत पर आक्रमण किया था और उनके आक्रमण बहुत भयंकर हुए थे। अफगान और दूसरे तुर्कों की शासन व्यवस्था को इन लोगों ने समाप्त कर दिया था किन्तु इन्होंने यहाँ अपना राज्य जमाने की दिशा में कोई प्रयास नहीं किया। अन्त में बाबर ने जो इन्हीं का वंशज था। भारतवर्ष में मुगल साम्राज्य की नींव डाली। उसने भी चार पाँच बार भारत पर आक्रमण किये और अन्त में लोदी वंश के अंतिम सम्राट इब्राहीम लोदी को पानीपत में और अगले वर्ष मेवाड़ के महाराणा साँगा को कनवाह के युद्ध क्षेत्र में हरा कर मुगल राजवंश स्थापित किया। परन्तु उसका पुत्र हुमायूं यह विरासत उचित रूप से नहीं सँभाल सका। शेरशाह के नेतृत्व में संगठित अफगानों ने हुमायुं को भारत से निकाल बाहर किया और पुनः अफगान राज्य की स्थापना कर ली। परन्तु यह राजा भी अल्पकाल ही रहा। यह शासन व्यवस्थित था और नीति भी उदार थी किन्तु उसके उत्तराधिकारी सुयोग्य नहीं थे। इसलिए हुमायूं पुन: अपने नाम को सार्थक करने में सफल हुआ और लगभग १५ वर्ष तक इधर उधर भटकने के बाद अपने पैतृक राज्य पर आधिपत्य जमा लिया। सन् १५५६ में उसके देहावसान के पश्चात् अकबर महान् दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। इस समय भारत की स्थिति प्रत्येक क्षेत्र में चिन्तनीय थी और चारों ओर राज्य के शत्रु छाये हुये थे। अकबर ने अपने फूफा बहरामखाँ की सहायता से अपना राज्य व्यवस्थित किया और अपनी ही बुद्धि और योग्यता द्वारा इसे सुदृढ़ बनाया और प्रशासन की दृष्टि से भी उन्नतिशील बना दिया। अपनी उदार और कुशल नीति द्वारा भारत में नया युग आरम्भ कर दिया। राजपूतों से मित्रता बढ़ाकर केवल मेवाड़ के अतिरिक्त समस्त उत्तरी भारत पर अपना आधिपत्य जमा लिया। हिन्दू मुस्लिम भेदभाव दूर करने के लिए नया सम्प्रदाय आरम्भ किया जिसका नाम 'दीन इलाही' था। राष्ट्रीय एकता और विकास के लिए और अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। उसके समय में टोडरमल के द्वारा किया गया, बन्दोबस्त अभी तक इतिहास में प्रसिद्ध है। इस प्रकार कूटनीति, प्रशासन और उदारता की दृष्टि से अकबर का शासनकाल अनोखा रहा है। उसके बाद जहाँगीर ने शासन किया यह अपने न्याय के लिए प्रसिद्ध है। 'जहाँगीरी न्याय' एक लोकोक्ति बन गया है। इसके बाद शाहजहाँ का शासन आरम्भ हुआ। इसके समय में कला-कौशल, वास्तुकला आदि की बहुत उन्नति हुई। भारत की अमूल्य निधि 'ताजमहल' जो विश्व के प्रसिद्ध आश्चर्यों में से एक है उसी के समय की कलाकृति है। औरंगजेब सबसे ही विचित्र था। उस

ने परम्परावादी नीति त्याग कर शुद्ध मुस्लिम सिद्धान्तों का कठोरता और निर्ममता से पालन किया, इसलिए समाज द्वारा विशेषकर हिन्दुओं द्वारा वह अप्रिय समझा गया और अन्त में ऐसी नीति के फलस्वरूप ही मुगल साम्राज्य का पतन आरम्भ होगया था। इस प्रकार मुगल साम्राज्य भारत में रहा और अन्त में छिन्न-भिन्न होगया।

इस्लाम का प्रभाव—साधारणतः जब दो संस्कृतियों का मेल होता है तो अधिक विकसित और उन्नत संस्कृति ही अनुन्नत एवं पिछड़ी हुई संस्कृति को प्रभावित करती है। अथवा यह भी संभव है कि विजेता संस्कृति अधीनस्थ संस्कृति पर बलपूर्वक अपना प्रभाव थोप दे। सम्भवतः बाहर से आकर लोग उस राष्ट्र की संस्कृति को समझकर उसकी त्रुटियां ढूंढकर फिर अपनी संस्कृति की उच्चता सिद्ध करते हुए प्रचार द्वारा उन पर अपनी संस्कृति का प्रभाव डालें। इन अनेक प्रकार के प्रभावों में से कोई भी काम में लाया जा सकता है परन्तु भारतवर्ष में मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव एक विशेष ढंग से हुआ। यह तो निश्चित है कि मुस्लिम संस्कृति भारतीय संस्कृति के समक्ष सदैव से ही अनुन्नत और अनुदार रही है इसलिए उच्चता का प्रभाव होने का तो प्रश्न नहीं था किन्तु राजनैतिक दृष्टि से शासकों की संस्कृति यह अवश्य थी। इसके अतिरिक्त भारतीय संस्कृति की दो मुख्य विशेषतायें सहिष्णुता और समन्वय की अपूर्व क्षमता इन दोनों के घनिष्ठ सम्पर्क की स्थापना में बहुत उपयोगी हुए। इसी का फल है कि पहले की हिन्दू संस्कृति और बाद में आई हुई मुस्लिम संस्कृति के समन्वय द्वारा नवीन संस्कृति का रूप मुखरित हुआ जिसे आज हम शुद्ध रूप से भारतीय संस्कृति कहते हैं। अन्य क्षेत्रों में किस प्रकार यह प्रभाव या समन्वय हुआ इसका अध्ययन अब हम करेंगे।

संस्थायें—हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय द्वारा भारतीय संस्कृति का विकास ही हुआ किन्तु एक नये ढंग से। अब तक मुसलमानों की तो यह परम्परा थी कि जहाँ जाते थे वहाँ के सम्पूर्ण निवासियों को वे अपने रंग में रंग लेते थे, किन्तु भारतवर्ष में सम्पूर्ण हिन्दू जाति को अपने रंग में नहीं रंग सके। यही दशा हिन्दुओं की भी हुई। अभी तक भारतवर्ष में जितनी जातियाँ आईं वे भारत में आकर भारतीय बन गईं और उसने अपने पूर्वज और पहले के देश आदि की स्मृति को विस्मृत कर दिया। ऐसा आत्मसात मुसलमानों को नहीं हो सका। भारत में आकर भी मुसलमान बहुत समय तक मुसलमान ही बने रहे। अनेक निरक्षर और संकीर्ण वृत्ति वाले मुसलमान अब भी अपने आपको भारतीय कहने से पहले सोचते हैं अतः यह मानना पड़ेगा कि दोनों तरह की संस्थायें अपना अस्तित्व बनाये रहीं बल्कि दोनों में यदाकदा विरोध भी रहा। मुसलमान एकेश्वरवादी थे और मूर्तिपूजा के विरुद्ध थे किन्तु हिन्दू लोग अपने देवताओं में विश्वास करते थे और मूर्तिपूजा के समर्थक थे। इस प्रकार विरोध के कारण दोनों प्रकार की संस्थाएँ एक दूसरी से प्रभावित होकर भी अलग अलग बनी रहीं। उदाहरणार्थ मुसलमान मूर्तिपूजा के तो विरुद्ध थे किन्तु पीर की पूजा करने लगे, सायंकाल मस्जिद में दीपक जलाने लगे।

यह हिन्दू प्रभाव ही था। इसके अतिरिक्त मुसलमान अधिकांश नगरों में रहे इसलिए गाँवों का वातावरण वैसा ही बना रहा। कभी-कभी सामूहिक धर्म परिवर्त्तन होते थे और उसके बाद भी वहाँ के धर्म परिवर्तित लोगों की वेष-भूषा, रीति-रिवाज वैसे ही बने रहते थे। इसी प्रकार नगरों के हिन्दुओं पर मुसलमानों का व्यापक प्रभाव हुआ। सामाजिक समानता का प्रभाव भारत की समस्त जातियों ने ध्यान से देखा और अपनाया। यद्यपि जातियों में तो ऊँच-नीच की भावना रही किन्तु एक जाति के भीतर समानता की स्थापना हुई। इस प्रकार संस्थाओं में बहुत आदान प्रदान हुआ।

धर्म—भारतीय संस्कृति के धार्मिक क्षेत्र में मुसलमानों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है अद्वैतवाद और मूर्तिपूजा का खण्डन शंकराचार्य के दर्शन में प्रकट है। सामाजिक समानता और ऊंच-नीच की भावना का त्याग बौद्ध और महावीर के सिद्धान्तों में भी था। इस्लाम पर उसका प्रभाव हुआ। सूफीवाद उसी की प्रतिक्रिया थी। अनेक सन्तों ने जैसे रहीम, कबीर आदि ने दोनों सम्प्रदायों की त्रुटियों की आलोचना और अच्छाइयों की प्रशंसा द्वारा संयुक्त विचारधारा को जन्म दिया और इसका प्रभाव भी बहुत हुआ। गुरु नानक ने इसी आधार पर दोनों धर्मों के अच्छे गुणों को लेकर नए सिखधर्म का सूत्रपात किया। इस प्रकार समन्वय के प्रयत्न हुए और फल यह हुआ कि दोनों धर्म एक दूसरे से प्रभावित हुए। हिन्दू लोग एकेश्वरवादी बनने लगे और मुसलमान शीतला, काली और पीर की पूजा करने लगे। अतः परस्पर एक दूसरे से प्रभावित होने के अनेक प्रमाण उपस्थित हो गये।

कला—तत्कालीन भारत की कला पर मुसलमानों की गहरी छाप है। यह सर्वविदित है कि इनका प्रभाव उत्तर भारत में अधिक और दक्षिणी भारत में कम था। इसीलिए उत्तर और दक्षिण की कला के स्तर, पद्धति और सौंदर्य में ही अन्तर है। परन्तु उत्तर भारत के मन्दिर और मस्जिद दोनों में बहुत साम्य है किन्तु दक्षिण भारत में भेद अधिक है। वहाँ उनकी रचना शैली में भारी अन्तर है। अतः यह सिद्ध होता है कि उत्तर में हिन्दू मुस्लिम सम्पर्क अधिक घनिष्ठ था और दक्षिण में कम था। इसी घनिष्ठता के आधार पर कला में भी परिवर्त्तन और प्रभाव हुए जो स्पष्ट देखे जा सकते हैं।

साहित्य—यद्यपि मुसलमान लोग अपने साथ अरबी और फारसी भाषाएँ लाए थे किन्तु भारतीय भाषा भी उन्हें अपनानी पड़ी और उनके साथ भारतीय भाषाओं के सम्मिलन से ही उर्दू भाषा का जन्म हुआ है। कई वर्षों बाद उसी में संस्कृत शब्दों की अधिकता के कारण हिन्दी भाषा का विकास हुआ। इसलिए हम यह देखते हैं कि बोल-चाल की हिन्दी और उर्दू लगभग एक सी है। दोनों में अरबी फारसी और संस्कृत भाषा के शब्दों का प्राचुर्य और प्रधानता है। ये भाषायें भी सम्प्रदाय के साथ नहीं रहीं बल्कि जनता की सम्पत्ति बन गईं। यही कारण है कि उस समय के साहित्यकारों ने तत्कालीन भाषाओं में ही साहित्य सृजन किया। हिन्दू लेखकों ने सफलतापूर्वक अरबी फारसी का साहित्य लिखा और अनेक मुसलमान

विद्वानों ने हिन्दी साहित्य में सफलता प्राप्त की और यही भारतीय साहित्य कहलाता है। इस समय के साहित्य में विलासिता थी, नायिका भेद काव्यशास्त्र का प्रमुख विषय था।

सामाजिक जीवन—मुसलमानों के आक्रमणों के समय और उसके पश्चात् भारतीय समाज कोई उन्नति नहीं कर सका। सम्भवतः पहले वह आत्मरक्षा की ओर लगा रहा और उसके बाद कुछ दिखाई नहीं दिया कि क्या किया जाय। धार्मिक दृष्टि में भी कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ। उस समय भी किसी भारतीय ने यह प्रयत्न नहीं किया कि देश के समस्त मत-मतान्तरों को मिला कर एक संगठित मोर्चा कायम किया जाय ताकि वे सुरक्षित रहें। ध्वस्त देवालय पुनः बनवाये गए और कुछ धन भी एकत्रित किया गया किन्तु इससे कोई विशेष लाभ हुआ नहीं। पूर्ववत् शैव, शाक्त, धर्म प्रचलित रहे। लिंगायत सम्प्रदाय नया चल पड़ा था। यह दक्षिण के शैव लोगों द्वारा चलाया गया था। इस सम्प्रदाय के अनुयायी शिवलिंग गले में लटकाये रहते थे। यद्यपि यह क्रान्तिकारी सम्प्रदाय था, स्त्रियों और पुरुषों को समान मानता था, धर्म, समाज और परम्पराओं को समयानुसार परिवर्तित करना चाहता था परन्तु नए युग के लिए यह भी उपयुक्त नहीं था। जैन धर्म, वैदिक धर्म, वैष्णव धर्म यथावत् चलते रहे। इसलिए समाज में नई आपत्तियों का सामना करने की योग्यता उत्पन्न नहीं हो पाई। जाति-पांति के बन्धन कठोर हो गये, ब्राह्मणों का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। निम्न श्रेणी के लोगों के प्रति हीनता का भाव बढ़ता गया और अस्पृश्यता का रोग भयंकर होने लगा। अन्तर्जातीय विवाह रुक गये और बाल विवाह, सती प्रथा, पर्दा प्रथा बढ़ने लगी। समाज में विषमता दिन प्रतिदिन बढ़ती गई। अनेक प्रथाओं का श्रीगणेश मुख्य रूप से मुसलमानों के आक्रमणों के फलस्वरूप अपनी मर्यादा और सम्मान की रक्षा करना था। सतीत्व की रक्षा के लिए ही, बाल विवाह, पर्दा और सती प्रथा चल पड़ी। उच्च कुलों में जैसे ब्राह्मण और क्षत्रीय जाति के लोगों में ही यह अधिक बढ़ी। राजपूतों में उसी समय से 'जौहर' की प्रथा चली। मुसलमान बहुत बर्बर और असभ्य थे। वे बहिन बेटियों के प्रति जो हिन्दू भाव रहते रहे हैं उन्हें समझने के लिए योग्य ही नहीं थे। उनके स्वयं के यहाँ बहिनों से विवाह होना एक रिवाज है। इनसे रक्षा करने के लिए ही हमारे यहाँ स्त्रियों के लिए उपरोक्त सावधानियाँ अपनाई गई जिससे हमारा स्त्री समाज पिछड़ गया।

फिर भी हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भारत में आकर मुसलमान वैसे ही नहीं रहे जैसे कि आये थे। वे सत्ताधारी थे, बलपूर्वक धर्म परिवर्त्तन भी उन्होंने किये और अपनी ही परम्पराओं का पालन भी करते रहे किन्तु अति प्राचीन भारतीय सभ्यता ने, मेंहदी के पीसने वाले को जैसे रंग लग जाता है, उसी प्रकार मुस्लिम जगत पर अपनी कई प्रकार की छापें लगाई। उदाहरणार्थ यहाँ की जाति प्रथा के प्रभाव से मुसलमानों में भेद उत्पन्न हो गया, कुछ अंशों में संयुक्त परिवार प्रथा जाग्रत हो गई और बाल विवाह भी प्रचलित हो गया। शादी विवाह, जन्म मरण तथा त्योहारों

के मनाने की पद्धतियाँ भी परिवर्तित हो गईं। हिन्दुओं में देवताओं के विमान उल्लास के साथ निकाले जाते थे इसलिए भारतीय मुसलमानों ने मोहर्रम गमी का त्योहार होते हुए भी उल्लासपूर्वक मनाना शुरू कर दिया जो अभी तक प्रचलित है। भारतीय संगीत कला, वास्तु कला और रहन-सहन के ढंग, भवनों की सजावट, बनावट आदि सभी पर एक दूसरे का प्रभाव हुआ किन्तु मुसलमानों का प्रभाव, शासक वर्ग में होने के कारण अधिक हुआ। प्रशंसनीय बात यह फिर भी स्वीकार करनी पड़ेगी कि प्राचीन हिन्दू संस्कृति ने अपनी मूल विशेषताओं को ज्यों का त्यों बनाये रखा। इसका एक कारण यह है कि भारत ग्राम्य व्यवस्था वाला देश है और मुसलमानों का प्रभाव गाँवों तक नहीं पहुँच सका था।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. भारत में मुसलमानों के आक्रमणों का वर्णन कीजिए।
२. मुगल-साम्राज्य की स्थापना का इतिहास लिखिए।
३. भारतीय संस्कृति पर मुसलमानों के प्रभाव का वर्णन कीजिए और उस पर हिन्दू संस्कृति का क्या प्रभाव हुआ, यह भी लिखिए।

—: ० :—

चौदहवाँ अध्याय

मध्यकालीन प्रशासन और समाज

प्रस्तावना—मध्ययुग में भारतवर्ष की शासन-व्यवस्था अच्छी नहीं थी। इसका विस्तृत अध्ययन करने के लिए हम इसे दो भागों में बाँट सकते हैं—(१) तुर्क और अफगानों की शासन-व्यवस्था और (२) मुगलकालीन शासन-व्यवस्था। वास्तव में इन दोनों व्यवस्थाओं में बहुत अन्तर था। यह तो सभी के लिए कहा जा सकता है कि केवल कुछ मुगल सम्राटों को छोड़ कर शेष सभी की व्यवस्था समस्त जनता की दृष्टि से सन्तोषजनक नहीं थी और जैसी व्यवस्था थी वह सदैव ही मुसलमानों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण और हिन्दुओं के प्रति या तो शोषणपूर्ण अथवा उदासीन रही। यही स्थिति तत्कालीन समाज की भी रही है।

तुर्क और अफगानों की शासन-व्यवस्था—इस समय के शासक वर्ग अधिकांश कट्टर मुसलमान थे और भारतवर्ष में प्रवेश करने के साथ ही जैसे उन्हें हिन्दुओं के साथ हर प्रकार से ज्यादतियाँ करने का गुरुमंत्र मिला हो, धार्मिक और सामाजिक अत्याचार में रत हो जाते थे। प्रशासन मुस्लिम तरीकों से संचालित किया जाता था, इसलिए मुल्ला और मौलवियों का प्राधान्य रहता था और सबसे बड़ा न्याय-ग्रन्थ अथवा विधान-संहिता उनकी कुरान शरीफ ही होती थी। उसी के अनुसार हिन्दूवर्ग उनके 'काफिर' की श्रेणी में आता था जिसे पीड़ित करना, उससे अधिकाधिक कर वसूल करना, आदि भी धार्मिक कर्त्तव्य के रूप में माने जाते थे। हिन्दुओं की संख्या अधिक होने के कारण वे लोग इनके वश में तो पूर्ण रूप से नहीं आये और जहाँ जहाँ पुराने शासक और राजा लोग प्रभावशाली थे जैसे बंगाल, राजपूताना आदि वहाँ मुसलमान लोग अपना संतुलित आधिपत्य जमा भी नहीं सके। अवसर मिलते ही ये लोग स्वतन्त्र हो जाते थे और बराबर मुकाबला करते थे। परन्तु मुसलमान शासक अपनी नीति में सुधार नहीं कर सके। भेद नीति द्वारा हिन्दू मुस्लिम का अन्तर स्पष्ट रूप से चलता रहा और जनता के साथ सान्निध्य स्थापित नहीं कर सके। कुछ ऐसे प्रशासक और राजा भी अवश्य हुए जिन्होंने जनता के साथ उदारता का व्यवहार किया और धार्मिक सहिष्णुता भी अपनाई, किन्तु ऐसे लोग बहुत कम हुए। ऐसे उदाहरण के रूप में मुहम्मद तुगलक आदि के नाम लिए जा सकते हैं। इस युग में कृषि, व्यवस्था, कला और साहित्य का क्रम लगभग यथावत् चलता रहा था।

इस समय राज्य का संगठन ऐसा था जिसमें सर्वोच्च शक्ति सुलतान के हाथ में रहती थी। वह अपने परामर्श के लिए परिषद भी रखता था और उनके परामर्श का उपयोग भी करता था परन्तु यह परामर्श सुल्तान के लिए मान्य नहीं होता था। कुरानशरीफ ही एकमात्र पथप्रदर्शक ग्रन्थ था जो धर्म, न्याय और अनेक उलझनों के हल के लिए सामने रहता था। प्रबन्ध की सुविधा के लिए प्रशासन में कई विभाग

होते थे और प्रत्येक विभाग एक मंत्री के सुपुर्द होता था। वजीर मुख्य मंत्री होता था और अर्थ-व्यवस्था भी उसी के हाथ में होती थी। इसी प्रकार रसालत (धर्म), कजा (न्याय), इंशा (पत्र-व्यवहार) आदि के मंत्री भी होते थे। राज्य की आय मुख्य रूप से भूमि-कर, जकात, जजिया आदि साधनों से एकत्रित की जाती थी। कुछ अंशों में अर्थ-दण्ड, लूट और लावारिस सम्पत्ति का सहयोग भी मिलता था। न्याय की व्यवस्था मुसलमानी ढंग पर ही थी। काजी राज्य का प्रधान न्यायाधीश होता था और अधीनस्थ न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्तियां भी वही करता था। दीवानी अभियोगों का निर्णय नागरिकों के सम्बन्धित धर्मग्रन्थों की सहायता से किये जाते थे। फिर भी अधिकांश हिन्दू-विवाद पंच-फैसले के द्वारा ही निपटा लिये जाते थे, क्योंकि उनके लिए दण्ड-विधान कठोर था और हिन्दू-मुस्लिम के उपद्रवों में न्याय मुसलमानी ग्रन्थों की (रू) सहायता से किया जाता था।

राज्य का विस्तार होने की अवस्था में प्रशासन की दृष्टि से प्रान्तों आदि की व्यवस्था भी की जाती थी परन्तु एक सुन्दर क्रमिक शासन व्यवस्था जैसी कोई वस्तु नहीं थी। इस समय सामन्त प्रथा प्रचलित थी। दूरस्थ भागों का प्रशासन सामन्त वर्ग के हाथ होता था जो अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होते थे। न्याय, व्यवस्था और सैनिक नियन्त्रण के लिए वे स्वच्छन्द होते थे। केवल वार्षिक कर देना और युद्ध के अथवा आवश्यकता के समय सैनिक सहायता पहुँचाना ही, सम्राट के प्रति उनका मुख्य कर्त्तव्य था। कहीं-कहीं हिन्दू सामन्त भी होते थे परन्तु उनका नियन्त्रण अधिक होता था। यह व्यवस्था प्रमुख शासक के व्यक्तित्त्व से अधिक सम्बन्धित थी। साम्प्रदायिकता का अधिक जोर था और धार्मिक कट्टरता प्रधान थी। शारीरिक और सैनिक शक्ति का प्राधान्य था इसलिए राज्य और राजवंश स्थायी नहीं होते थे। सैनिक शक्ति और संगठन में जरा सा अन्तर आते ही सामन्तवर्ग विद्रोह करके स्वतन्त्र हो जाता था अथवा वाहरी आक्रमणों का तांता शुरू हो जाता था। यह व्यवस्था का रूप मध्यकाल के पूर्व भाग में चलता रहा।

मुगलों की शासन-व्यवस्था—हमारे देश के इतिहास में मुगलों का शासन दीर्घकाल तक रहा और लगभग सभी प्रकार के शासक इस वंश में उत्पन्न हुए। महान् सम्राट अकबर से लेकर औरंगज़ेब तक एक से एक अच्छा शासक हुआ, किसी ने साम्राज्य का विस्तार किया, शासन व्यवस्था जमाई तो किसी ने कला-कौशल के क्षेत्र में उन्नति की, तो किसी ने न्याय-प्रियता में अपना यश कमाया। इस प्रकार जनहित और लोकहित की प्रवृत्ति को जागृत किया। हिन्दू मुस्लिम भेद जो युगों से चला आ रहा था जिससे देश का वातावरण निरन्तर क्षुब्ध रहता था, समाप्त कर दिया गया। इस समय के सम्राटों की गणना विश्व के महान् शासकों में होती है। ये भी मुसलमान ही थे किन्तु इनकी कट्टरता अपने ही तक सीमित थी। केवल औरंगज़ेब में धर्म-प्रियता अधिक थी और धर्म-भेद में उसका अधिक विश्वास था इसीलिए उसके शत्रु भी बहुत हो गये थे और साम्राज्य की नींव भी हिलने लगी थी। उसके बाद लगभग मुगल साम्राज्य नष्ट ही हो गया।

मुगल साम्राज्य की व्यवस्था बहुत अच्छी थी। सिद्धान्त रूप में तो शासक स्वेच्छाचारी ही होता था और उसके चरित्र का प्रभाव अधिक होता था। परन्तु आरम्भ के मुगल शासक वास्तव में प्रजावत्सल हुए और लोकहित को सर्वाधिक प्रधानता दी। धर्म-भेद को महत्त्व नहीं दिया। इसीलिए राज्य के कर्मचारियों में सभी सम्प्रदायों के लोगों को सब प्रकार के पद केवल योग्यता के आधार पर दिये जाते थे। केवल अन्त के युग में इस नीति का अनुसरण नहीं हुआ। अच्छी शासन व्यवस्था के लिये सम्राट परामर्शदाता भी नियुक्त करता था और प्रत्येक काम उनकी सलाह से करता था। यद्यपि परामर्श स्वीकार या अस्वीकार करना सम्राट की स्वतन्त्र इच्छा पर ही निर्भर रहता था किन्तु वह उसका हमेशा सम्मान करता था। उन्हीं में से वजीर (मंत्री), दीवान और विभागाध्यक्ष भी नियुक्त किये जाते थे। मीर, बख्शी, सदर और काजी आदि की सहायता की भी शासन में अपेक्षा होती थी। न्याय के क्षेत्र में भी सम्राट सर्वोच्च न्यायाधिपति होता था और अन्तिम निर्णय वही करता था, किन्तु उसके नीचे दीवानी एवं धार्मिक अभियोगों के लिये सदर की नियुक्ति की जाती थी। काजी का स्थान भी महत्त्वपूर्ण था। इसके अतिरिक्त मुफ्ती (कानून व्याख्याता), मीर अदल (निर्णय घोषित करने वाला) आदि अन्य कई राज कर्मचारी होते थे। कानून की सहायता मुख्यरूप से कुरानशरीफ से ली जाती थी और दूसरे मामलों में सम्बन्धित व्यक्तियों के रीतिरिवाज के अनुसार निर्णय किये जाते थे। दण्ड-व्यवस्था कठोर थी। साधारण अपराध के लिए भी दण्ड कठिन दिया जाता था। मृत्युदण्ड भी प्रचलित था, किन्तु यह सदैव सम्राट की आज्ञा से ही दिया जाता था। अर्थदण्ड अधिक व्यवहार में आता था।

प्रबन्ध की दृष्टि से साम्राज्य, प्रान्तों में, प्रान्त डिवीजन और जिलों में तथा अनुशासन की दृष्टि से जिले भी अनेक भाग और विभागों में बाँटे हुये थे। प्रत्येक प्रान्त का मुख्य अधिकारी प्रान्तपति या सूबेदार कहलाता था। अधिकांश ये लोग सम्राज के वंशज होते थे और सम्राट की आज्ञानुसार ही शासन चलाते थे। उनके नीचे फिर अनेक कर्मचारियों की क्रमिक शृंखला होती थी जिनमें उपप्रान्तपाल (नायब सूबेदार), दीवान (Revenue Collector), फौजदार (District Magistrate) और कोतवाल आदि अनेक प्रधान कर्मचारी होते थे। सामन्त प्रथा भी प्रचलित थी परन्तु ये लोग सम्राट के आधीन होते थे। अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होते हुए भी इन्हें सम्राट की सेवा में सदैव प्रस्तुत रहना पड़ता था। अधिकांश ये लोग सम्राट द्वारा ही बनाये जाते थे। अपनी शक्ति के आधार पर स्वयं बने हुये और सम्राट द्वारा बाद में मान्यता दिये हुये सामन्त नहीं थे। इस प्रकार मुगल साम्राज्य की शासन व्यवस्था अच्छी जमी हुई थी।

अभाव—फिर भी हम इस व्यवस्था को आदर्श नहीं मान सकते। अफगान एवं मुगल सम्राटों ने देश की सुरक्षा और सुधार की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। सत्ता की कठोरता का उपयोग करते हुए जनता पर निर्दयता और निर्ममता के साथ अंकुश रक्खा। आर्थिक क्षेत्र की समृद्धि बढ़ाने के लिए कृषि की सुविधायें देना,

व्यापार बढ़ाना, उद्योग-धन्धे स्थापित करना आदि कार्य नहीं किये। शिक्षा की व्यवस्था नहीं की। उन्होंने देश के ही भिन्न-भिन्न भागों को जीतने के लिए सेना पर अधिक व्यय किया इसलिए कुछ लोग इस समय के शासन को 'सैनिक शासन' का नाम भी देते हैं। इसके अतिरिक्त शाही समृद्धि के फलस्वरूप राजवंश में विलासिता का साम्राज्य जम गया और शानशौकत के कारण साम्राज्य का आधार खोखला हो गया। सम्पूर्ण भारत का एक साम्राज्य होने पर भी शासन केन्द्रित बना रहा इसलिए शिथिलता और अन्याय पनपने लगा और औरंगजेब के समय में तो यह स्थिति ऐसी हो गई कि जिधर सम्राट नहीं रहता था वहाँ तो खुला विद्रोह होता ही था, किन्तु जहाँ वह स्वयं जाता था वहाँ भी व्यवस्था भंग होने लग गई थी। परन्तु दीर्घकाल तक साम्राज्य के जम जाने के कारण शासन का ढंग जम गया था। इसीलिए प्रोफेसर सरकार ने इस व्यवस्था वाली सरकार को पेपर गवर्नमेंट अर्थात् कागजी सरकार का नाम दिया है। सचमुच यह सरकार ऊपरी दिखावा मात्र अधिक थी और जनता का कल्याण करने वाली कम। इसीलिए अन्त में इस सरकार का पतन हो गया।

मध्यकालीन समाज—प्रारम्भ में मुसलमानों के सम्पर्क से भारत के हिन्दू समाज पर विशेष प्रभाव नहीं हुआ। सामाजिक क्षेत्र में परम्परागत गतिविधि उसी रूप में चलती रही। केवल बाहरी प्रभाव से बचने के लिए समाज अपनी सीमाएँ दृढ़ करने में जरूर लगा। इसीलिए रूढ़ियाँ प्रधान बनने लगीं और समाज में जो प्रगतिशील रहने का गुण था वह कुण्ठित होने लगा। इसी के साथ समाज की समन्वय वृत्ति में भी जड़ता आई। जो समाज अभी तक बाहर से आने वाली जातियों के हाथ थोड़े समय में शनैः शनैः आत्मसात कर लेता था वह अब बाहरी जातियों से सचेत रहने लगा और जड़ता की ओर बढ़ा। इसका एक कारण यह भी था कि हूण, शक आदि लोग जो भारत में आये, वे कुछ अर्द्धसभ्य भी थे इसलिए वे अपने आप को इतना नहीं पहचानते थे कि किसी अन्य पर अपना प्रभाव डाल सकें अथवा उसके प्रभाव से बचे रहने की इच्छा करें। मुसलमान इस सम्बन्ध में कट्टरता का गुण लेकर आये थे इसलिये वे जैसे भी थे बर्बर, नृशंस और निर्मम, वैसे ही बना रहना चाहते थे। उनके धार्मिक विश्वास और मान्यतायें दृढ़ थीं इसलिये भारत-वासियों पर एक प्रकार से (Reflex action) की प्रतिक्रिया हुई और उन्होंने भी अपनी प्रवृत्तियाँ बदलीं और बाहरी लोगों से घनिष्ठता उत्पन्न करना या उनके साथ आत्मसात करना बन्द कर दिया। ऐसी स्थिति में अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये हिन्दुओं ने जाति के बन्धन कठोर कर लिये। अपनी संस्कृति की रक्षा और सामाजिक व्यवस्थायें उसी रूप में संरक्षित रखने लगे। इस प्रवृत्ति से उन्नति का मार्ग तो रुक गया किन्तु प्राचीन तत्त्वों की रक्षा दृढ़ता से की जाने लगी।

इस प्रकार मुस्लिम सम्पर्क से हमारे समाज में कुछ भयंकर दोष भी उत्पन्न हो गये। मुसलमान स्वभाव से ही बर्बर और विलासी होते थे। स्त्रियों और धन के प्रति वे सदैव लोभी रहते थे। इसीलिये यहाँ पर्दा प्रथा, बाल विवाह, सती प्रथा और क्षत्रियों में 'जौहर' की प्रथा प्रचलित हुई। दास प्रथा का आरम्भ भी इसी विलासिता

के वातावरण में हुआ। सम्राट और नवाबों के यहाँ असंख्य दास रहने लगे थे।

मुगलों के समय में सामाजिक दशा कुछ अच्छी थी। सामन्त प्रथा प्रचलित थी। इस समय हिन्दू और मुसलमान दोनों वर्गों में अनेक श्रेणियाँ बन गई थीं। ईसाई धर्म का प्रचार भी यहाँ होने लगा था किन्तु यह धर्म अभी महत्त्वपूर्ण नहीं हुआ था। समाज में मुख्य रूप से तीन वर्ग थे—(१) राजवंश और उच्चकालीन वर्ग—इसमें सम्राट और उसके वंशज, राजा-महाराजा और उमराव तथा सम्पत्तिशाली लोग सम्मिलित थे। इनके पास धन की प्रचुरता थी और भव्य भवनों में शान-शौकत के साथ रहते थे। समाज में बहुत प्रतिष्ठा थी। इनके यहाँ विलासिता की समस्त सामग्री, कंचन, सुरा और सुन्दरियों का ठाठ था। प्रत्येक के रनिवास में सैकड़ों अतीव सुन्दरियाँ विराजमान थीं और दूसरे उपादान संगीत, नृत्य, द्यूत, विनोद आदि के समस्त साधन भी उपलब्ध रहते थे। (२) दूसरा वर्ग मध्यम श्रेणी के लोगों का था। यह विकास इस युग में ही हुआ था। इसमें राज्य के कर्मचारी, व्यापारी, सम्पत्तिशाली, शिल्पी और अच्छे लिपिक और लेखक तथा साहित्यकार सम्मिलित थे। इनका जीवन साधारण होता था। (३) इस श्रेणी में निम्न वर्ग के लोग थे। किसान, साधारण कर्मचारी, सैनिक, शिल्पकार और श्रमिक इस वर्ग में आते थे। ये लोग नित्य कुआँ खोद कर नित्य पानी पीने वालों में थे। आर्थिक स्थिति चिन्ताजनक थी किन्तु समाज का अधिक भार भी इसी वर्ग पर था। बेगार प्रथा इन्ही के सिर पर चलती थी। विभिन्न प्रकार के शुल्क और कर भी ये लोग देते थ। भूमि का स्वामित्व भी इनका नहीं था और सामन्तों की स्वेच्छानुसार इनकी सम्पत्ति भी जब्त कर ली जाती थी। ऐसी अनीति तत्कालीन समाज में फैली हुई थी।

उपरोक्त वर्णन से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि भारतवर्ष में हिन्दू और मुसलमानों के सम्पर्क से जो नवीन वातावरण बना उससे वास्तविक सामाजिक प्रगति में अवरोध उत्पन्न हुआ। दोनों संस्कृतयाँ एक बार जड़ बन गई। अपनी अपनी सीमाओं में यथावत् बनी रहने का यत्न करती रहीं और धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों समन्वय हुआ उस समय तक वे जड़ता का शिकार बन गई इसलिये सामाजिक प्रथायें कुरीतियों के रूप में प्रकट होते रहने पर भी उनसे दूर नहीं रह सकीं। यद्यपि यह सच है कि इस दृष्टि से भी हिन्दू समाज के अधिक सिद्धान्त नीति पर आधारित रहे और मुसलमान केवल अपनी धार्मिक कट्टरता के आधार पर ही डटे रहे और अनैतिक व्यवहार पर विश्वास करते रहे, फिर भी समय और स्थिति के अनुसार सारी परिस्थितियाँ बदलती गईं और अन्त में समस्त समाज, भारतीय समाज के रूप में ढल गया।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. मध्यकालीन तुर्क और अफगान शासन व्यवस्था का वर्णन कीजिए।

२. मुगलों की शासन व्यवस्था के मुख्य तत्त्वों का विवेचन कीजिए।

३. मुसलमानों के सम्पर्क से हिन्दुओं में कौन कौन सी सामाजिक बुराइयाँ उत्पन्न हुईं और क्यों? समझाकर लिखिए।

—:o:—

पन्द्रहवाँ अध्याय

भारत की समन्वित संस्कृति का विकास
(Growth of a composite Indian Culture)

प्रस्तावना—भारतवर्ष की संस्कृति किस प्रकार विकसित हुई है यह बहुत लम्बी कहानी है। प्राचीनकाल और वैदिक काल की आर्य और वैदिक संस्कृति के निरन्तर विकास के फलस्वरूप ही नवीन संस्कृति विकसित हुई है। यह सत्य है कि दीर्घकाल तक भारतीय संस्कृति में अपने भीतर आत्मसात् करने की अदम्य क्षमता रही और बाहरी सभ्यतायें और संस्कृतियाँ जिन्होंने इस देश में प्रवेश किया वे एकाकार होगईं। यही कारण था कि भारतीय संस्कृति के शाश्वत विकसित रूप में कहीं कोई बाधा या रुकावट नहीं आई। हूण, शक, पार्थियन, यूनानी जो भी यहाँ आये शीघ्र ही भारतीय रंग में रंग गए। यह क्रम सर्वप्रथम मुसलमानों के आगमन से अवरुद्ध हुआ। वास्तव में बात यह थी कि भारतवासी तो यह समझते रहे कि जैसे अन्य और जातियाँ आई हैं, वैसे ही यह जाति भी आ रही है और थोड़े समय पश्चात् यथा-स्थान प्राप्त करने पर यह भी भारतीय बन जायगी, किन्तु बात बिल्कुल विपरीत थी। मुसलमान लोग धर्मान्ध तो थे ही, वे धर्म परिवर्त्तन के लिए भी कटिबद्ध थे और अन्यत्र वे इसी साधन से धर्म प्रचार और धर्म प्रतिष्ठा जमाते आये थे। इसलिए यहाँ भी उन्होंने यही मार्ग अपनाया किन्तु भारत विचित्र देश था। भारतीय संस्कृति को समाप्त करना उनके लिए संभव नहीं हुआ और इसकी समाप्ति के बिना सारा राष्ट्र मुसलमानों का हो नहीं सकता था। इसलिए शासकों के बल प्रयोग द्वारा तलवार से धर्म प्रचार और धर्म परिवर्त्तन करने पर भी जब मुसलमानों को अपने धर्म का एक छत्र राज्य स्थापित करना संभव नहीं हुआ, तब यह समन्वय आरंभ हुआ। एक दूसरी संस्कृति को परस्पर प्रभावित होना एक स्वाभाविक घटना हुई। इसी मिली जुली संस्कृति अथवा समन्वित (मिश्रित) संस्कृति का अध्ययन हम यहाँ करेंगे।

सर जॉन मार्शल के मतानुसार हिन्दू और मुस्लिम दो परस्पर विरोधी संस्कृतियों का समन्वय वास्तव में भारत की ही नहीं विश्व को इतिहास की एक विलक्षण और शिक्षाप्रद घटना है। इस कार्य में भारतवर्ष दोनों सम्प्रदायों का सहयोग रहा है। दोनों जाति के संत, विद्वान, साहित्याचार्य एवं अन्य विभूतियों ने अतिर्वचनीय सहयोग किया है। प्रारंभ में तो जब मोहम्मद कासिम का आक्रमण हुआ तब भारतवासी यह नहीं समझते थे कि वे यहीं आकर बस जावेंगे और हम पर अपना धर्म, रीति-रिवाज आदि थोपेंगे। उनके पूर्व आक्रमणों की भांति लूट मार कर वापस चले जाने की आशा किये थे। परन्तु वे तो अपना धर्म प्रचार करना चाहते थे। इसलिए भारतीय दर्शन, ज्ञान और कला को छुआ तक नहीं और नष्ट

करना आरम्भ कर दिया। उनके धर्म में इन कार्यों से दूसरों का धर्म नष्ट करने से भगवान प्रसन्न होता था। इसलिए वे इन कामों में लग गये। इस कारण से ही हिन्दुओं में आत्मरक्षा और अपनी संस्कृति तथा धर्म, दर्शन, कला आदि की रक्षा की चिंता हुई और अनेक बन्धन लगाये गये। प्रत्यक्षतः अनुदारता आरम्भ हुई। जनता के धर्म परिवर्त्तन के सम्बन्ध में पहले तो यह उदारता रही कि जबरदस्ती जो लोग मुसलमान बनाये जाते थे वे कुछ प्रायश्चित और व्रत, तीर्थ आदि के पश्चात् पुनः हिन्दू बना लिए जाते थे किन्तु थोड़े समय बाद अनुदारता अधिक व्यापक हो गई और धर्म परिवर्त्तित लोगों का हिन्दू समाज में पुनः प्रविष्ट होना कठिन हो गया और द्वार सदैव के लिए बन्द हो गया। एक दूसरे से अब दोनों समाज ऐसे पृथक हो गये कि मिलने की संभावना ही नहीं रही। किन्तु एक ही स्थान पर रहने के कारण दोनों की प्रथाओं, भाषा आदि का परस्पर प्रभाव होना अनिवार्य था। उसी के फलस्वरूप समन्वित सभ्यता का विकास हुआ। दोनों वर्ग के लोग परस्पर हिलने मिलने लगे। एक दूसरे के दुःख सुख में सम्मिलित होने लगे किन्तु सम्प्रदाय अलग ही रहे। अंग्रेजों ने इसी भावना का उपयोग कर यहाँ विभाजित करो और शासन करो की नीति के अनुसार शासन चलाया।

परस्पर भेद का मूल आधार—हिन्दू और मुसलमानों में यदि किसी चीज में मूल रूप से भेद है तो वह धर्म है। हिन्दू धर्म और मुस्लिम धर्म एक दूसरे से विपरीत हैं। हिन्दू मूर्ति पूजा में विश्वास करते हैं, मुसलमान नहीं। हिन्दू पुनर्जन्म और कर्म सिद्धान्त में विश्वास करते हैं, मुसलमान नहीं। हिन्दू सहिष्णु हैं, मुसलमान कट्टर। और इसी प्रकार हिन्दू और मुसलमानों की भाषा, वेशभूषा, रीति-रिवाज आदि सब विपरीत हैं। यदि ध्यान से देखें तो पहले हिन्दुओं में भी वैदिक काल से लेकर उपनिषद् काल तक मूर्ति पूजा नहीं होती थी। बाद में इसका प्रचार हुआ था और मुसलमानों में पहले अरब में मूर्ति पूजा प्रचलित थी बाद में मुहम्मद साहब ने विरोध करके उसे समाप्त किया था। इस प्रकार दोनों का विकास विपरीत रहा। हिन्दू धीरे-धीरे मूर्ति पूजक बने और मुसलमान धीरे-धीरे मूर्ति पूजा के विरोधी बने। वास्तव में हिन्दू लोग मूर्ति को भगवान न मानकर उनके ध्यान के लिए एक प्रतीक या साधन मानती रही है। इस प्रकार दया और लोक व्यवहार के सिद्धान्त भी जो अलग-अलग हुये वे सब धर्म के कारण। अतः मूल अन्तर दोनों में सम्प्रदाय अथवा धर्म का था और उसके आधार पर ही अन्य बातें विकसित हुईं।

हिन्दू धर्म की रक्षा—मुस्लिम धर्म के साथ कुछ ऐसी विशेषतायें थीं कि जिनके कारण उसका प्रसार रोकना सरल नहीं था। राज्य की सत्ता उनके हाथ में थी, इसलिए उनकी भाषा, रीति-रिवाज और मान्यतायें समाज में स्वतः प्रचलित हो गईं। फिर उनके धर्म में काफिरों को सताना उनका धर्म परिवर्त्तन करना एक पुण्य कर्म था। उसमें तब वे लोग धर्मान्धता के कारण लड़ते थे तो राज्य की ओर से और भी प्रोत्साहन दिया जाता था। धर्म परिवर्त्तन करने वालों का कुछ समय समाज और राज्य में सम्मान भी होता था। हिन्दुओं में अपनी अनुदारता के कारण

जातिगत बन्धन कठोर हो गए। एक जाति से दुसरी जाति को ऊँच नीच समझने की भावना भी उत्पन्न हो गई और फिर धर्म बदल लेने वालों के लिए पुनः प्रवेश पाने का द्वार भी बन्द हो गया था। ऐसी स्थिति में हिन्दू धर्म की सुरक्षा का बहुत जटिल प्रश्न उपस्थित हुआ। विरोधी लोग हिन्दू धर्म की कमजोरियां ढूंढते थे और समर्थक उसके गुण।

ऐसे समय में कुछ उद्भट विद्वान और प्रकाण्ड पंडितों ने हिन्दू धर्म की सुरक्षा का कार्य अपने हाथों में लिया। लगभग १४वीं शताब्दी में विजयनगर में श्री माधव ने कुछ ऐसे ग्रन्थ लिखे जैसे पाराशर स्मृति टीका आदि जिनमें हिन्दू धर्म की विशेषताओं का वर्णन किया। बंग देश के पंडित विश्वेश्वर भी इसी श्रेणी में आते हैं। इन्होंने ऐसी व्यवस्था का प्रतिपादन किया कि जिससे हिन्दू धर्म अक्षुण्ण बना रहे और बाहरी तत्व उसे छू न पावें। परन्तु एक साथ रहने वाली जातियों के लिए इस प्रकार की व्यवस्था व्यवहार्य नहीं थी। धीरे-धीरे परस्पर प्रभावित होना आरम्भ हुआ।

दोनों सभ्यताओं के समन्वय का प्रारम्भ—इस स्तर पर आने के बाद भारतवर्ष में ऐसे अनेक संत, महात्मा और विद्वान हुए जिन्होंने हिन्दू और मुसलमानों में कोई भेद स्वीकार नहीं किया वरन् इसके विपरीत दोनों धर्मों के अच्छे तत्त्वों को मान्यता दी और दोनों की बुराइयों के लिये समान रूप से आलोचना आरम्भ की। इस प्रक्रिया को कुछ लोग 'भक्ति आन्दोलन' का नाम देते हैं, क्योंकि रामानन्द, कबीर, सूर, तुलसी आदि अनेक संत लोग ही इसमें प्रधान रूप से सक्रिय रहे। इस युग में (मध्यकालीन) समस्त भारत की विभिन्न भाषाओं हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला, तामिल आदि में साहित्य की रचना हुई और अनेक सन्तों ने इस सरल ज्ञान को जनता तक पहुँचाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। वर्त्तमान समय में भी इन संत महात्माओं का प्रभाव जन जन के हृदय पटल पर अंकित है और सदियों तक रहेगा ऐसी आशा है। इस पवित्र कार्य में सहयोग देने वाले कुछ प्रतिनिधि सन्तों का संक्षिप्त अध्ययन हम यहाँ करेंगे।

श्री रामानुजाचार्य—ये भक्ति मार्ग के प्रथम उपदेशक थे। सन् १०१७ में उनका जन्म हुआ था। इनके मत को 'विशिष्टाद्वैत' कहते हैं जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इन्होंने ईश्वर को प्रेम की प्रतिमा के रूप में उपस्थित किया। ये भगवान के विष्णु रूप की उपासना करते थे और ब्रह्म की एकता और अस्तित्त्व में अटूट विश्वास करते थे। चूंकि ये प्रथम उपदेशक थे, इसलिये प्रारम्भिक कठिनाइयों के कारण ये उतने अधिक लोकप्रिय नहीं हो सके जितने इनके बाद में होने वाले संत और आचार्य।

स्वामी रामानन्द—नवीन आन्दोलन के ये प्रथम प्रतिनिधि माने जाते हैं। इनका जन्म चौदहवीं शताब्दी में प्रयाग में एक ब्राह्मण कुल में हुआ था। ये शैशव-काल से ही विचारक और ईश्वर प्रेमी थे। ये राम के उपासक थे, उसके सगुण और निर्गुण दोनों रूपों की भक्ति करते थे। इसका प्रचार करने के लिए ये सन्यासी हो

गये। जाति-पांति का भेद नहीं मानते थे और भक्ति सबके लिए जरूरी मानते थे। नीच जाति के लोगों के प्रति उनकी सहानुभूति बहुत थी और वे उन्हें अपना शिष्य बनाते थे। उनका विश्वास था कि भगवान के यहाँ सब बराबर हैं और मुक्ति प्राप्त करने के लिये जीवन निष्पाप और शुद्ध होना चाहिये। इनके बारह प्रमुख शिष्य थे, जिन में नाई, चमार, जुलाहा आदि सभी जातियों के लोग थे। उनके शिष्य कबीर, पीपा, सुक्खा, सुरसुरा, भवानक, सेना, धन्ना, पद्मावती, नरहरि, रैदास, सुरसुरा की पत्नी और अनन्तानंद थे। अपने शिष्यों के कारण ये लोकप्रिय रहे।

महात्मा कबीरदास—कबीर साहिब का जन्म काशी में एक ब्राह्मण के यहाँ हुआ माना जाता है (सन् १३९८)। किन्तु लालन-पालन एक जुलाहे के घर हुआ जिसे ये एक तालाब के किनारे पर पड़े हुए पाये थे। उस जुलाहे के सन्तान नहीं थी, इसलिए उसने पुत्रवत् ही इनका पालन किया। लगभग सौ वर्ष से भी अधिक ये जीवित रहे थे। ये प्रथम भक्त थे जिन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों को खरी खरी सुनाई और अभी तक एक दूसरे से दूर रहने वाले लोगों को एक ही स्थान पर भाई भाई की भाँति इकट्ठा कर दिया। इनके विश्वास बड़े सरल और स्पष्ट थे। भगवान के लिए ये किसी विशेष नाम का प्रयोग नहीं करते थे। इनका सिद्धान्त था कि ईश्वर को प्रसन्न करने एवं प्राप्त करने के लिए मनुष्य को सरल और सच्चा जीवन व्यतीत करना चाहिए और बाह्य आडम्बरों को त्यागना चाहिए। उन्होंने धार्मिक अन्धविश्वास, जातिभेद और धार्मिक असहिष्णुता की कड़ी आलोचना की। उनके दोहे और पद अध्यात्म और रहस्यवाद से युक्त भी हैं और सरल भी। सूफीवाद से भी वे प्रभावित थे। इसलिए विरहिन, सूक्ष्म मार्ग, दीदार, नदी आदि का वर्णन किया है। हिन्दी कविता में कबीर का स्थान बहुत ऊँचा है। वे एक सच्चे समाज सुधारक और हिन्दू मुस्लिम एकता के प्रथम पुजारी और प्रतिस्थापक थे। उन्होंने मूर्ति पूजा और मस्जिद की आलोचना की और इनके आडम्बरों का खोखलापन बताया। ये सचमुच निरपेक्ष संत थे जिन्हें मानव समाज की सेवा करनी थी, किसी सम्प्रदाय विशेष की नहीं। इसीलिए हिन्दू इन्हें हिन्दू और मुसलमान इन्हें मुसलमान मानते थे। इनका देहावसान भी काशी में ही हुआ था।

गुरू नानक—इनका जन्म १४६९ ई० में लाहौर के पास तलबंडी गाँव में हुआ था। ये जाति से खत्री थे। इन्होंने देश विदेश की बहुत यात्रा की थी। ये भी जाति पांति के विरोधी थे। मनुष्य के जीवन की पवित्रता वे अनिवार्य बताते थे। हिन्दू मुस्लिम एकता पर इन्होंने भी बहुत बल दिया था। इन्होंने बाहरी आडम्बर को व्यर्थ बताया है। मन्दिर, मस्जिद और वेद कुरान का भेद वे व्यर्थ बताते थे। कब्रों की जियारत और श्मसान का निवास व्यर्थ है, तीर्थ अनिवार्य नहीं है। ये भी गुरू परम्परा में विश्वास करते थे कि गुरू बिना ज्ञान नहीं हो सकता। इन पर भी सूफीवाद का प्रभाव था और हिन्दू मुसलमानों के भेद को मिटाने की इनकी प्रबल इच्छा थी। ६९ वर्ष की अवस्था में इनका स्वर्गवास हुआ था।

अन्य सन्त—इसी समय अन्य अनेक संत हुए जिनमें काशी के रैदास (चमार)

धर्मदास, बंगाल में चैतन्य देव, राजस्थान में मीरा एवं नरसी महता (इनका माहीरा राजस्थान के गाँवों में वहुत लोकप्रिय हैं), दक्षिण में बल्लभाचार्य (कृष्णभक्ति के प्रतिपादक), महाराष्ट्र में नामदेव एवं ज्ञानदेव ग्रादि हुए हैं। इन महान् ग्रात्माओं के प्रयत्न से हिन्दू मुस्लिम एकता की स्थापना हुई—परस्पर भेद भाव जाता रहा और धीरे-धीरे समन्वय भावना पुनः विकसित हुई और जिसका सुन्दर रूप मुगलकाल में उपस्थित हुआ।

समन्वित विकास क्रम

भाषा और साहित्य—भारतवर्ष में मुसलमानों के जम जाने के बाद भाषा परिवर्तन ग्रारम्भ हुग्रा। भारतीय भाषाओं में ग्ररबी और फारसी के शब्द घुसने लगे और मुसलमान लोग अपनी बोल चाल में भारतीय शब्दों का प्रयोग करने लगे। यह स्वाभाविक विकास था। जब दोनों जातियाँ मिल जुल कर रहने लगीं तो सर्व-प्रथम बोलचाल के द्वारा ही विचारों और भावों का ग्रादान प्रदान हुग्रा। फिर इसके साथ कुछ अन्य साहित्यकार और संतों का योग भी मिला, जिनमें कबीर, रैदास और ग्रमीर खुसरो ग्रादि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। खुसरो ने लगभग सौ वर्ष की उम्र प्राप्त की थी और वह फारसी का विद्वान भी था। इसलिए उसने एक फारसी और हिन्दी का कोष लिखा। इससे प्रकट होता है कि हिन्दी का नवीन रूप विकसित होने लग गया था। कबीर दास की हिन्दी और भी ऊँचे स्तर की थी। यही नहीं, भाषा के विकास में अन्य बहुत से शासकों ने भी सहयोग दिया जिनमें काश्मीर के सुलतान जैनुल ग्राब्दीन, बंगाल के हुसैनशाह ग्रादि प्रमुख थे। इस समय भारतीय दर्शनशास्त्र, ग्रायुर्वेद शास्त्र और ज्योतिष शास्त्र उन्नति की चरम सीमा पर थे। इससे विदेश भी प्रभावित हो गए थे। इसीलिए मुसलमान भी इस ज्ञान से प्रभावित हुए। यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि इस युग में प्रान्तीय भाषाएँ स्वतन्त्र रूप से विकसित हुई हैं। कुछ संतों ने ब्रजभाषा, कबीर ग्रादि ने हिन्दी भाषा, नामदेव ग्रादि ने मराठी, चैतन्य महाप्रभु ने बंगला और सभी जगह भ्रमण करने वालों ने संस्कृत और फारसी दोनों भाषाओं को अपनाया था। यह समय समन्वय का युग था। इसलिए हिन्दू विद्वानों ने फारसी में भी रचनाएँ कीं और मुसलमानों ने हिन्दी में काव्य और साहित्य का सृजन किया। मुसलमानों की तवारीख (इतिहास) में विशेष रुचि थी। जियाउद्दीन बरनी और शिम्ससिराज ग्रफीफ इस समय के अच्छे इतिहासकार थे। मुगल कालीन स्थिति में साहित्य और भाषा की ओर भी अधिक उन्नति हुई। इसी समय हिन्दी और फारसी के संयोग से उर्दू का ग्राविर्भाव हुआ और जायसी ने ग्रवधी में 'पद्मावत' भी लिखा। रीतिकालीन साहित्य का सृजन, जिसमें श्रृंगार रस, नायिका भेद ग्रादि प्रमुख थे, देव, बिहारी, मतिराम ग्रादि विख्यात कवियों द्वारा इसी युग में हुआ।

वास्तुकला—हिन्दू और मुसलमानों के शांतिमय जीवन का ग्रारम्भ होते ही जैसे भाषा, साहित्य और रीति रिवाज का समन्वित विकास हुआ। उसी प्रकार

कला भी प्रभावित हुई। दोनों जातियों की कला में भी आदान प्रदान हुआ। इस समय के भवन, मूर्तियाँ और स्थापत्यकला के क्षेत्र में यह प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। इसे "भारत-मुस्लिम" (Indo-Islamic) कला कहते हैं। इस समय की निर्मित तुगलकशाह की कब्र, अटाला मसजिद और जामा मसजिद, तत्कालीन कला के सुन्दर उदाहरण हैं। हिन्दू कला भी इस समय विकसित हो रही थी और विशेष तौर पर राजस्थान में यह कला अधिक प्रभावशाली थी।

इस युग की वास्तुकला के क्षेत्र में गुम्बज, मीनारें, महराब तथा पटाव (Vault) अधिक महत्वपूर्ण रहे हैं। यह समन्वित भारतीय कला का ही परिणाम था। हुमायूँ का मकबरा, कुतुबमीनार, फतहपुर सीकरी और आगरे के महल उसी समय की रचनाएँ हैं। देखने में ये ऐसी लगती हैं जैसे किसी हिन्दू सम्राट ने बनवाई हों। इसमें ईरानी-शैली का प्राधान्य है। किन्तु इस कला के अनेक अंश भारत में पहले से ही थे। गुम्बज की गोलाई और गर्दन का स्वरूप भारतीय ही है। फतहपुर सीकरी में बुलन्द दरवाजा (जो १३० फीट ऊँचा है), दीवान-ए-खास, इबादतखाना (प्रार्थना भवन, जो कमल पुष्प के रूप में एक स्तम्भ पर स्थित करके बनाया गया है) और पंच महल (बौद्ध विहार के ढंग पर) उल्लेखनीय स्थान है। इनके पख, छावणे (उतरंगे), रोड आदि पूर्णरूप से भारतीय ढंग के हैं। इस प्रकार भारतीय और ईरानी कला का सुन्दर समन्वय हुआ। ईरानी शैली में रंगीन खपरैलें, उपवन और उद्यानों के मध्य भवन और प्रासाद तथा निर्माण में कला प्रदर्शन मुख्य होता है तथा भारतीय शैली में कटी हुई महराब दुबेल स्तम्भ, सजावट आदि के तत्त्व मुख्य होते हैं। इन्हीं का समन्वय हुआ शाहजहाँ के समय में यह कला उन्नति चरम सीमा पर थी। इन भवनों को देखकर आज भी कवियों की कल्पना जागृत हो जाती है। इसीलिए मोती मसजिद की "भावपूर्ण प्रस्तर काव्य" और ताजमहल को "स्फटिक मय स्वप्न" और "अत्युत्तम सौंदर्य" कहा जाता है।

चित्रकला—इस समय की चित्रकला में भी हिन्दूस्थानी और फारसी तत्त्वों का समन्वय हुआ। इसका सबसे अधिक विकास अकबर महान् के समय में हुआ। उसके दरबार में अनेक चित्रकार रहते थे। राजपूतों के सम्पर्क से वह हिन्दू कला का का प्रेमी बन गया और चित्रकला की उन्नति के लिए अनेक ईरानी और भारतीय चित्रकार नियुक्त किए। विदेशी चित्रकार फिर भी कम थे और इनमें समद, खुसरो, कुली जमशेद, फर्रुखबेग आदि प्रमुख थे। भारतीय चित्रकारों में केशव, मुकुन्द, लेखाबनलाल, जगन्नाथ, हरिवंश आदि हिन्दू लोग थे जो खाती, कायस्थ, कहार, सलावट आदि जातियों के थे। ये सब लोग मिलकर कार्य करते थे। एक ही चित्र बनाने में कोई रेखाएँ बनाता था, तो कोई रंग भरता था और बाद में पूरा होने पर उस्ताद उसकी सफाई करता था। इस प्रकार अकबर के समय में चित्रकला बहुत विकसित हुई। यही नहीं वह प्रदर्शिनी करवाना, चित्रकारों को पुरस्कृत करना, सम्मानित करना, चित्रकला संबन्धी रंग, कागज आदि मँगवाकर देना आदि विभिन्न रूपों में इस क्षेत्र की उन्नति में लगा रहता था। अबुलफजल ने लिखा है भारत के

तत्कालीन चित्रकारों की समता विश्व में कहीं के चित्रकार भी नहीं कर सकते थे। उसी समय के अद्वितीय ग्रन्थ रज्मनामा (जयपुर), अकबरनामा (लंदन) और बाबरनामा अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। जहाँगीर के समय में भी इस कला की उन्नति हुई और भित्ति चित्रों की प्रथा चली। कागज पर भी चित्र बनाए गए और इनका संग्रह होने लगा। इसी समय राजपूत कला का स्वतन्त्र विकास हुआ जिसमें पौराणिक गाथाएँ, ऋतु वर्णन, राग-रागिनियाँ, बारहमासा आदि के रूप में अनेक स्कूलों का विकास हुआ जिनमें कोटा, बूंदी, जयपुर, मेवाड़, मारवाड़ आदि की कलायें बहुत प्रसिद्ध हैं। शाहजहाँ के समय यह उत्साह ठण्डा हो गया था और औरंगजेब ने तो धर्म के प्रतिकूल समझकर इस कला को समाप्त ही कर दिया। इस प्रकार हिन्दू और मुस्लिम प्रभाव से समन्वित चित्रकला ने बहुत उन्नति की।

संगीत कला—इस क्षेत्र में भी दोनों जातियों के समन्वय का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। अफगानों के आगमन तक तो यह क्षेत्र यथावत् रहा किन्तु मुगलों ने इस क्षेत्र में भी उन्नति की। बाबर स्वयं शायर था और गजल उसको अच्छी लगती थी; किन्तु मुसलमानों के यहाँ संगीत में स्वर और राग-रागनियों की व्यवस्था नहीं थी। इन दोनों के समन्वय से संगीत कला में परिवर्तन हुआ। उसके बाद अकबर भी संगीत प्रेमी था। प्रसिद्ध तानसेन और बैजू बावरा उसी के समय में हुए थे। मुगल काल में ही ख्याल और ठुमरी का प्रचार हुआ और साधारण परिवर्तन के साथ नई राग-रागनियाँ भी प्रचलित हुईं जिनमें बहार, दरबारी मियाँ की तोड़ी आदि प्रधान हैं। वाद्ययंत्र लगभग वैसे ही रहे। सारंगी का विकास संभवत: इस युग में हुआ है। वैसे वीणा, सितार, इकतारा, तानपुरा आदि पहले ही भारत में थे। अरबी ताशा, नक्कारा, शहनाई आदि विदेशी प्रतीत होते हैं परन्तु मुगलों के साथ केवल नाम का सम्बन्ध होने के अतिरिक्त कोई विशेष प्रमाण प्राप्त नहीं है। यह समन्वय भी उत्तर भारत में ही सीमित रहा। दक्षिण भारत में तो अभी तक भी प्राचीनकाल के शास्त्रीय संगीत और वाद्य प्रचलित हैं।

उपसंहार—इस प्रकार भारतवर्ष की समन्वित संस्कृति का विकास हुआ जिसमें सम्पूर्ण देश के जीवन के विभिन्न क्षेत्र प्रभावित हुए। भाषा, साहित्य, कला, रीति रिवाज, धर्म, विचार आदि सभी का नवीन रूप विकसित हुआ। इसी का नाम भारत की समन्वित सभ्यता है जो न अकेले हिन्दुओं की है और न अकेले मुसलमानों की। वरन् सम्पूर्ण राष्ट्र की सम्पत्ति है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. भारत की समन्वित सभ्यता से क्या समझते हो, समझाइए।

२. भारत की समन्वित सभ्यता में भाषा, साहित्य और संगीतकला के विकास का वर्णन कीजिए।

३. भारतीय संतों ने इस समन्वित सभ्यता के विकास में क्या योग दिया? सविस्तार लिखिए।

४. भारतीय सभ्यता की चित्रकला पर एक निबन्ध लिखिए।

सोलहवाँ अध्याय

मुगल-साम्राज्य का ह्रास और अंग्रेजों की विजय

प्रस्तावना—मुगल साम्राज्य के समय भारत की सर्वांगीण उन्नति का अध्ययन हम कर चुके हैं। दीर्घ काल तक समुचित व्यवस्था और शासन प्रबन्ध चलाने के बाद भी मुगल साम्राज्य स्थायी न रह सका, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। संसार में यह उक्ति बहुत प्रचलित है कि "शक्ति द्वारा उत्पन्न वस्तु शक्ति के द्वारा ही नष्ट हो जाती है। मुगल साम्राज्य भी इसका अपवाद नहीं था। अनेक सुयोग्य शासकों द्वारा शासित होने के कारण ही यह लम्बे समय तक टिक सका किन्तु अयोग्य उत्तराधिकारी और उनके विलासी होने के कारण तथा परस्पर संघर्ष और मनमुटाव के कारण, वही साम्राज्य विलीन भी हो गया। यह सच है कि दीर्घ काल में जमे हुए साम्राज्य का ह्रास भी दीर्घकाल में ही हुआ।

मुगल साम्राज्य का पतन—औरंगजेब के शासनकाल तक मुगल साम्राज्य बहुत सम्पन्न और व्यवस्थित था किन्तु उसकी धर्मान्धता, अपने वंशजों के प्रति अविश्वास, पाशविक हिंसावृत्ति और हिन्दुओं के प्रति द्रोह का व्यवहार रखने के कारण समस्त देश में असन्तोष कर गया था। यही कारण है कि उसकी वृद्धावस्था में ही देश में अनेक उपद्रव होने लगे। दूरस्थ देशों के हिन्दू और मुसलमान शासक स्वतन्त्र होने लगे, विद्रोह करने लगे और नई-नई जातियाँ और दल भी विकसित हो गए। दक्षिण में मराठा लोग जबर्दस्त शक्ति के रूप में हिन्दुओं के त्राता बनकर संगठित हुए, उत्तर में जाट लोगों ने मुगलों का सामना करना शुरू किया, राजस्थान में वीर दुर्गादास और राणा परिवार स्वतन्त्रता के उपासक चैतन्य हुए और सिक्ख लोग अपना अलग राज्य विस्तार करने लगे। ऐसी स्थिति में ठगों और पिंडारियों ने देश में अराजकता का नग्न स्वरूप उपस्थित कर दिया। लूटमार प्रतिदिन की घटना बन गई। मराठे, जाट, पिंडारी आदि सभी नृशंस बन गए। इस प्रकार औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य का पतन बहुत शीघ्र हुआ। सन् १७१९ में फर्रुखसियर की हत्या कर दी गई और प्रान्त स्वतन्त्र हो गए। मराठों ने दिल्ली तक धावे शुरू कर दिए (१७३८) और नादिरशाह ने (१७३९) दिल्ली में कत्ले आम करवा कर अपार सम्पत्ति (मयूर सिंहासन भी) लूट कर ले गया। सन् १७८८ में गुलाम कादिर रोहिला ने दिल्ली पर आक्रमण करके शाहआलम की आँखें फोड़ दीं और समस्त सम्पत्ति को लूटकर ले गया। इस प्रकार मुगल साम्राज्य की दशा दिन प्रतिदिन शोचनीय होती गई।

इधर मराठा शक्ति बढ़ती जाती थी। वे लोग मालवा, गुजरात और राजस्थान में जम से गए थे। चौथ आदि तो वसूल करते ही थे, यहाँ की राजनीति और शासन में भी हस्तक्षेप करते थे और पैसे के लोभ से कोई भी उचित अनुचित कार्य

में सहायता देने के लिए प्रस्तुत रहते थे। संगठन भी इनका मजबूत था। इसलिए धीरे-धीरे दिल्ली और कलकत्ता तथा पेशावर तक ये लोग कूच करते थे। पिंडारी लोग इन्हीं के साथी और अधीनस्थ थे। इन्होंने व्यवस्था बिगाड़ने का ही कार्य किया। जनता इनके अत्याचारों से कराहने लगी थी और यह चाहती थी कि किसी भी तरह वर्तमान स्थिति का अन्त हो।

अंग्रेजों की विजय—इस समय तक मुगल साम्राज्य तो विलीन हो गया किन्तु एक सुव्यवस्थित शासन का अभाव बना रहा। सम्पूर्ण देश में अराजकता व्याप्त हो गई। अठारहवीं शताब्दी तक अंग्रेज रीति और नीति से बम्बई, मद्रास, कलकत्ता आदि स्थानों पर जम गए थे और १७६५ तक कुछ प्रांतों पर भी हावी हो गए थे। वास्तव में ये व्यापार की दृष्टि से आए थे परन्तु इसकी पूर्व स्थिति शासन व्यवस्था का संगठन होता है। जब यहाँ शासक का स्थान रिक्त दिखाई दिया तो श्वेतांग पुरुषों ने अवसर का पूर्ण लाभ उठाया। पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी और अंग्रेज सभी लोग यहाँ आए हुए थे। परन्तु अंग्रेज जाति अधिक कुशल व्यापारी, सफल शासन और व्यवहार-पटु निकली। उन्होंने पहले मराठों को दबाया और टीपू-सुल्तान को समाप्त कर दिया। १८०३ में दिल्ली का बादशाह भी उनके समर्पित हो गया। सन् १८१७–१८ में पिंडारियों और ठगों को कुचल दिया। राजपूत नरेशों से उन्होंने सन्धियां कर लीं और मित्र बन गए और पेशवा भी उनसे पेंशन पाने लगा। अब वे देशी शासकों के परस्पर संघर्षों में सहयोग और विरोध करने लगे और व्यवस्था जमाने लगे। उनके शस्त्र और जहाजी शक्ति उनकी सत्ता का मूल आधार थी। उन्हें केवल उन्हीं के साथी यूरोपियन लोगों से कठिन मुकाबला करना पड़ा और उसमें भी अन्त में वे विजयी हुए। फ्रांसीसी और डच तथा पुर्तगाल के लोग उनके सामने नहीं टिक सके। धीरे-धीरे ब्रह्मा, लंका और सम्पूर्ण भारत पर लाल रंग छा गया और इतने बड़े साम्राज्य की स्थापना हो गई जिसमें सूर्यास्त नहीं होता था। यह साम्राज्य १४ अगस्त सन् १९४७ तक भारतवर्ष में स्थापित रहा।

परिवर्तन के कारण—हमारे देश की पराधीनता के लिए अनेक कारणों का विवेचन किया जाता है। यह स्वाभाविक है कि पश्चिम के द्वारा पूर्व की यह विजय वास्तव में एक महत्वपूर्ण घटना थी और इसके लिए कुछ महत्वपूर्ण तत्वों का अभाव उत्तरदायी माना जाता है। सर्वप्रथम, भारतवर्ष इतना विशाल और विस्तृत देश था किन्तु फिर भी यहाँ देशभक्ति की भावना स्पष्ट रूप से विकसित नहीं थी। इसलिए विभिन्न दल और शक्तियां केवल अपने ही स्वार्थों को लेकर आगे बढ़ने में प्रयत्नशील थे। उन्हें परस्पर लड़ते समय अपनी मातृभूमि के प्रति प्रेम और उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा का उच्चादर्श सामने नहीं था। इसलिए इन्हें परस्पर लड़ा देना बहुत सरल रहा और बिल्ली और बन्दर की कहानी की भाँति विदेशी लोग यहीं के सत्ताधीशों को लड़ाकर अपनी व्यवस्था स्थापित करने में सफल हो गए।

इस परिवर्तन के लिए दूसरा कारण यह था कि केन्द्र अत्यन्त दुर्बल हो गया था तथा हिन्दू और मुस्लिम जनता में एक दूसरे के प्रति सन्देह इतना बढ़ गया था

कि वे परस्पर विश्वास कर ही नहीं सकते थे। औरंगजेब आदि मुगल सम्राटों ने भारत की एकता के लिए गहरी कब्र बना दी थी। इस स्थिति में विदेशी शक्ति एक निष्पक्ष मध्यस्थ की भाँति कार्य करने लगी और सरल, उदार हृदयी भारतवासी अपने संघर्षों का निर्णय उनकी सहायता द्वारा करने लगे। कूटनीति, व्यापार नीति तथा विदेशी सम्बन्धों का प्राचीन भारतीय ज्ञान इस समय तक लुप्त सा हो गया था। इसलिए यहाँ बसे हुए अंग्रेज विभिन्न प्रकार से भारतीय शासकों को चातुरीपूर्वक लड़ाकर अपना प्रभाव जमाने में पूर्ण सफल हुए।

व्यापारिक क्षेत्र में भारतवर्ष यद्यपि उन्नत और अग्रसर था, तो भी उसके साथ व्यापार पटुता और नीति का आदर्श उपस्थित नहीं था। इस युग में विदेशों में व्यापार महत्वपूर्ण समझा जाता था और राजा महाराजा तथा शासक वर्ग उसमें अपना पूरा पूरा सहयोग देते थे। किन्तु भारतवर्ष में व्यापार एक ही वर्ग 'वैश्य' के लिए समझा जाता था और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय इसमें कोई सक्रिय सहयोग नहीं देते थे। इसलिए देश की राजनीति पर उसका प्रभाव उलटा हुआ। अपने देश की व्यापार की रक्षा करना, विदेशी महत्वहीन वस्तुओं के आयात पर बन्धन लगाना आदि बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। फलस्वरूप, भारत का व्यापार, भारत का धन और अन्त में भारत का स्वत्व स्वतन्त्रता भी धीरे-धीरे विदेशी हाथों में चली गई।

भारतीय नैतिकता भी इस परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है। विदेशियों के साथ अतिथि की भाँति सद्व्यवहार करना, उनके साथ व्यापार आदि सभी क्षेत्रों में सन्धियां करना और अपनी बात पर दृढ़ रहना भारतवासियों के जीवन का अभिन्न अंग था किन्तु इसके विपरीत विदेशियों के मन में कूटनीति, छल, छद्म और कपट प्रधान रहता था। अवसर के अनुसार उनके सिद्धान्त बदलते थे और नैतिकता को वे महत्व नहीं देते थे इसलिए सन्धि की शर्तों का पालन केवल वे अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए करते थे। कोई बाधा आने पर पुनः सन्धियाँ नवीन रूप से तय की जाती थीं। श्री बर्क का कथन है कि भारतवर्ष में अंग्रेजों द्वारा की गई एक भी ऐसी सन्धि नहीं है जिसका उन्होंने पालन किया हो और बाद में उसे तोड़ा न हो, परन्तु भारतवासी यह सब देखने में असफल रहे। इसके अतिरिक्त भारतीय वीरता और साहस के ऊँचे आदर्शों का भी प्रयोग विदेशियों ने अपने स्वार्थ पालन के लिए ही किया। वैसे विदेशी और भारतीय सेना के मध्य कोई भी ऐसा युद्ध नहीं हुआ जिसमें अपने अच्छे शस्त्रों के होते हुए भी वे भारतवासियों को पराजित कर सके हों, किन्तु भारतीय दो दलों को लड़ाकर ही वे सदैव विजयी हुए हैं। यह सत्य स्वीकार करते हुए बड़ा दर्द होता है, परन्तु वास्तविकता यही है कि भारत ने अपनी ही शक्ति से अपने आपको निर्बल बनाया और फिर विदेशियों का सहारा लेकर पराधीन हो गया। अपने शुद्ध बाहुबल के आधार पर अंग्रेज जाति भारत को अपने अधीन नहीं बना सकती थी।

भारतीय समाज का अधःपतन भी इस परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है। मुगलों के समय से ही चरित्रहीनता, विलासिता, भेदभाव, जातीयता, भ्रष्टाचार और

व्यभिचार का नंगा नाच होने लगा था और उच्च आदर्श लुप्त होने लगे थे। ऐसे दुर्बल समाज का ढांचा सुदृढ़ बना रहना असम्भव सा था और यही हुआ और फिर विदेशियों के सम्पर्क से तथा उनके प्रभाव से यहाँ हीनत्व की भावना का प्रसार हो गया। सत्ताधीशों की प्रत्येक चीज और आदर्श अच्छा और भारत की प्रत्येक चीज पिछड़ी हुई दिखाई देने लगी और सम्पूर्ण भारतीयता को पक्षाघात सा हो गया। भारत की नैया डगमगाने लगी और स्वतन्त्रता लुप्त होने लगी। स्वतन्त्र विचार-धाराएँ अवरुद्ध हो गईं। संकीर्णता का प्रवेश हुआ। संसार के घटनाचक्र से परिचय जाता रहा और विदेशी शक्ति के प्रभाव का ज्ञान भी नहीं रहा। अपना प्राचीन ज्ञान भी विस्मृत होने लगा और नया ज्ञान उपार्जित नहीं किया। इसके अतिरिक्त आर्थिक विषमता ने तो भारतीयता की रीढ़ की हड्डी ही तोड़ दी। देश में अनेक भारी कर लगाए किन्तु समृद्धि की सुरक्षा नहीं की। व्यापार बढ़ने लगा किन्तु आयात और निर्यात का सन्तुलन नहीं रहा। उद्योग धन्धों की रक्षा नहीं कर सके। विदेशी व्यापार दृढ़ बनने लगा और भारतीय व्यापार पिछड़ गया। नवीन विज्ञान का उपयोग करते हुए मुद्रण तथा कागज के कारखाने यहाँ खोले गए किन्तु भारतवासियों ने इसमें कोई सक्रिय भाग नहीं लिया। इस प्रकार भारतीय स्वतन्त्रता के नष्ट होने और विदेशी शासन की स्थापना के उपरोक्त अनेक कारण थे। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष स्वयं आपसी संघर्ष, आर्थिक, सामाजिक और नैतिक क्षेत्रों में अनुन्नत और व्यापारिक तथा कूटनीतिक क्षेत्रों में पिछड़ जाने के कारण ही अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सका। यहाँ की परम्परावादी उदारवृत्ति और इस युग की अत्यन्त महत्वपूर्ण देशभक्ति की भावना का प्रारम्भ में नितान्त अभाव भी इस पराधीनता को लाने में उत्तरदायी रहे हैं।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. मुगल साम्राज्य के ह्रास के क्या कारण थे? समझाकर लिखिए।
२. भारत में अंग्रेजों की विजय पर एक टिप्पणी लिखिए।
३. भारत में युग परिवर्तन के समस्त कारणों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
४. क्या यह सच है कि भारतीय उदारता और नैतिक आदर्श हमारी परतन्त्रता के लिए उत्तरदायी हैं? समझाकर लिखिए।

—:०:—

सतरहवाँ अध्याय

भारत में ब्रिटिश शासन

प्रस्तावना—अंग्रेजों का सम्पर्क भारतवर्ष के साथ सन् १६०० से आरम्भ हुआ और कई परिवर्तनों के साथ सन् १९४७ तक गहरा सम्बन्ध रहा। इसके बाद भारतवर्ष स्वतन्त्र हो गया किन्तु राजनैतिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध अब भी बने हुए हैं। यही कारण है कि राष्ट्र-मण्डल (Common Wealth) की सदस्यता अभी तक चल रही है। इतने दीर्घ काल में ब्रिटिश शासन के कई रूप इस देश में प्रस्तुत हुए हैं। किन्तु प्रारम्भ से लेकर सन् १९३५ तक के शासन विधान का रूप एक प्रकार से विकास का क्रम ही समझा जाता है और अन्त में सन् १९३५ के विधान के द्वारा ही सन् १९४७ तक प्रशासन चला है। इसके पश्चात् सत्ता हस्तांतरित हो गई। इसलिए आधारभूत ब्रिटिश शासन का वास्तविक स्वरूप वही है जो सन् १९३५ के शासन विधान द्वारा प्रदान किया गया था। फिर भी सन् १९३५ के विधान तक का क्रमिक विकास का ज्ञान अनिवार्य सा प्रतीत होता है। इसलिए संक्षेप में इसका अध्ययन करने के बाद ही वास्तविक ब्रिटिश शासन का अध्ययन आरम्भ करेंगे।

भारत का संवैधानिक विकास—ईस्ट इण्डिया कम्पनी का मुख्य उद्देश्य भारत में केवल एकमात्र व्यापार करना था और यही कार्य प्रारम्भ भी किया। किन्तु उस समय यहाँ पर मुगल सम्राट की शक्ति क्षीण हो रही थी और प्रान्तों में विभिन्न शासक वर्ग स्वतन्त्र होते जा रहे थे। इस स्थिति का लाभ उठाकर कम्पनी के कर्मचारियों ने शासन में हस्तक्षेप आरम्भ कर दिया। धीरे-धीरे व्यापार भी बढ़ा और शासन करने की शक्ति भी हाथ आती गई। सन् १७५७ में प्लासी का युद्ध हुआ, उसमें अंग्रेज विजयी हुए और फलतः व्यापार के एकाधिकारी से बन गए। सन् १७६५ में लार्ड क्लाइव ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त की और उन प्रान्तों में सुरक्षा और भूमिकर की व्यवस्था कम्पनी ने स्वयं आरम्भ कर दी। इसी समय से उनका राजकाज में हस्तक्षेप आरम्भ हो गया और दिन प्रतिदिन बढ़ता गया और सन् १८५७ तक देश के बहुत बड़े भाग का शासन कम्पनी के अधीन हो गया। इस बीच में सन् १७७३ का रेग्यूलेटिंग एक्ट, सन् १७८४ का पिट्स इण्डिया बिल आदि ब्रिटिश संसद ने पास किए थे। इनका उद्देश्य यही था कि भारत में अच्छी व्यवस्था हो और कम्पनी अपना कार्य सुचारु रूप से करे। नियन्त्रण सभा और गुप्त समितियों का संगठन भी इसी दृष्टि से किया गया था। गवर्नर जनरल के अधिकारों में वृद्धि हुई और शासन धीरे-धीरे केन्द्रित कर दिया गया। इसके पश्चात् १८१३ और १८३२ में फिर नए कानून पास किए और कम्पनी का कार्य केवल राजशासन को सम्भालना ही रह गया।

सन् १८५८ ई० में, जब ब्रिटिश सरकार ने भारत का प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम (१८५७) शान्त कर दिया तब यहाँ का शासन ब्रिटिश सम्राट के अधीन हो गया। महारानी विक्टोरिया ने घोषणा की कि अब राजकीय पदों के लिए केवल योग्यता के आधार पर नियुक्तियाँ होंगी। धर्म, जाति, वंश के आधार पर नहीं और सरकार धर्म मत आदि विषयों में भी हस्तक्षेप नहीं करेगी। अब भारत का सम्पूर्ण शासन भारत मंत्री को सौंप दिया गया। उसकी सहायता के लिए १५ सदस्यों की कौंसिल बनाई जो केवल परामर्श देती थी और इस परामर्श को स्वीकार करना भारत मंत्री की इच्छा पर निर्भर करता था। भारत का गवर्नर जनरल पूर्णरूपेण भारतमंत्री के आधीन हो गया। इसके बाद सन् १८६१ नए नियम द्वारा भारतवासियों को भी शासन व्यवस्था में स्थान दिया गया और १८९२ के नए विधान द्वारा इन भारतीयों की संख्या बढ़ा दी गई। इस समय देश में नवचेतना फैल गई थी। राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हो चुका था। इसलिए जनता को संतुष्ट करने के लिए अधिक अच्छे अधिनियमों की आवश्यकता थी। इस समस्या का हल करने के लिए भारत मन्त्री श्री मोर्ले और गवर्नर जनरल श्री मिन्टो की मंत्रणा के आधार पर मिन्टो मोर्ले अधिनियम पारित किया गया और जनता द्वारा निर्वाचित सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई; किन्तु साम्प्रदायिक निर्वाचन का सिद्धान्त भी मान लिया गया। इसलिए इन सुधारों से जनता संतुष्ट नहीं हुई। १९१४ में प्रथम विश्व युद्ध आरम्भ हो गया।

प्रथम विश्व युद्ध के समय भारतवासियों ने अंग्रेजों की बहुत सहायता की इसलिए २० अगस्त सन् १९१७ में भारतमंत्री श्री मान्टेग्यू ने इङ्गलैंड की लोकसभा में घोषणा की अब युद्धोपरान्त भारत में वहीं के निवासियों को शासन में अधिक हिस्सा दिया जाय और स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं की स्थापना भी की जाय, जिससे उत्तरदायी शासन स्थापित करने में सुविधा रहे। तत्पश्चात् सन् १९१९ में मॉन्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों के आधार पर नवीन अधिनियम पारित हुआ जिसमें निम्नलिखित विशेषतायें थीं :—

(१) धारा सभाओं में जनता द्वारा निर्वाचित सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई और मनोनीत सदस्यों की संख्या से अधिक कर दी गई।

(२) मतदाताओं की योग्यतायें उदारतापूर्वक कम कर दी गईं ताकि अधिक लोग मताधिकार का प्रयोग कर सकें।

(३) धारा सभा के अधिकारों में वृद्धि हो गई। अब वे प्रशासन सम्बन्धी प्रश्न पूछने की अधिकारिणी बन गई और आय-व्यय ब्यौरे पर भी विचार करने का अधिकार प्राप्त हो गया।

(४) प्रान्तों में दोहरा शासन (Dyarchy) अर्थात् द्वैध शासन प्रणाली आरम्भ हो गई। प्रांत के विषयों को दो भागों में विभाजित किया गया। एक भाग जनता के प्रतिनिधि मंत्रियों को सौंप दिया गया। ये विषय हस्तांतरित विषय कहलाए और इनके प्रशासन का उत्तरदायित्व मंत्रिमण्डल पर रहा। दूसरा भाग सुरक्षित विषय कहलाया और यह गवर्नर की कार्यकारिणी समिति के सदस्यों को सौंप दिया

गया। ये लोग अपने कार्यों के लिए केवल गवर्नर के प्रति उत्तरदायी रहे।

(५) केन्द्रीय सरकार की व्यवस्था ज्यों की त्यों चलती रही।

(६) गृह सरकार (इङ्गलैंड) में भारतीय परिषद् (India Council) के सदस्यों की संख्या आठ से बारह कर दी गई और इनमें से आधे सदस्यों का ऐसा होना अनिवार्य कर दिया जो कम से कम दस वर्ष तक भारतवर्ष में रहे हों।

(७) भारतमंत्री का वेतन भारत के कोष के बजाय इङ्गलैंड के कोष से दिया जाने लगा।

इन विशेषताओं के होते हुये भी भारतवासियों को यह विधान पसन्द नहीं आया। विशेषकर द्वैध शासन प्रणाली को भयंकर माना गया और इसकी इतनी आलोचना हुई कि आज तक भी यह एक कहावत के रूप में चला आ रहा है। वास्तव में यह सिद्धान्त दोषपूर्ण ही है। श्री चिन्तामणि आदि ने अपने अनुभव के आधार पर यह सिद्ध किया है कि यह प्रणाली शासन को असफल बनाने की अत्यन्त सरल प्रणाली है। इसलिए कांग्रेस और दूसरे राजनीतिज्ञों को सन्तोष नहीं हुआ और संघर्ष बराबर चलता रहा। आतंकवाद और दमन, असहयोग और कारावास, गोलमेज सम्मेलन और उनकी सफलता असफलताओं के कण्टकाकीर्ण मार्ग में होकर देश गुजरता रहा और अन्त में सन् १९३५ में नवीन भारतीय विधान पारित हुआ जिसके द्वारा भारत के स्वतन्त्र होने तक शासन चलता रहा।

सन् १९३५ का भारतीय अधिनियम—यह २ अगस्त सन् १९३५ को स्वीकृत हुआ था। यह ब्रिटिश सरकार द्वारा पारित सबसे बड़ा और उलझनदार अधिनियम था। इसकी प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित थीं :—

(१) इस अधिनियम के द्वारा एक अखिल भारतीय संघ की स्थापना के लिये व्यवस्था की गई थी। यद्यपि समस्त भारतवर्ष एक ही देश था किन्तु नए प्रस्तावित संघ में सम्मिलित होने वाली इकाईयाँ एक सी नहीं थीं। कुछ ब्रिटिश प्रान्त थे और कुछ देशी राज्य। साथ ही प्रान्तों का संघ में सम्मिलित होना अनिवार्य था और देशी राज्यों का सम्मिलित होना उनके शासकों की इच्छाओं पर आधारित था। इसी प्रकार प्रांतों का समस्त शासन के लिये संघ में आना अनिवार्य था और देशी राज्यों के लिये यदि आना भी चाहें तो केवल उन्हीं विषयों के सम्बन्ध में जिन्हें उनके शासक स्वयं सौंपना पसन्द करें और अन्त में संघ की स्थापना के लिये यह शर्त थी कि संघ उस समय स्थापित होगा जब कि ऐसी संख्या के देशी राज्य संघ में सम्मिलित होने को तैयार हों जिनकी जनसंख्या समस्त देशी राज्यों की जनसंख्या की कम से कम आधी हो। इस प्रकार इसे उलझनदार अधिनियम कहा जाना उचित ही था।

(२) संघ की व्यवस्थापिका सभाओं में निम्न सदन में देशी राज्यों को १२५ और प्रांतों को २५० तथा राज्य-परिषद् में देशी राज्यों को १०४ और प्रांतों को १५६ सदस्य भेजने का अधिकार दिया गया था। यहाँ भी देशी राज्यों के प्रतिनिधि शासकों द्वारा मनोनीत होने को थे और प्रांतों के प्रतिनिधि जनता द्वारा

निर्वाचित होने चाहियें थे ।

(३) इस संघ के अधिकारों का वर्गीकरण भी विशेष पद्धति से ही हुआ था । अधिकारों की तीन सूचियां बनाई गई थीं, संघीय सूची, प्रांतीय सूची और संयुक्त सूची , तथा गवर्नर जनरल को यह विशेष अधिकार था कि वह यह निश्चय कर सके कि कौन सा विषय किस सूची में सम्मिलित किया जाय ।

(४) सन् १६३५ के अधिनियम द्वारा केन्द्र में द्वैध शासन की व्यवस्था की गई थी । कुछ विषय गवर्नर जनरल के आधीन रहे जिनका प्रशासन वह तीन परामर्शदाताओं की सहायता से करता था और ये विषय सुरक्षा, विदेशी सम्बन्ध, पादरियों के मामले और कबायली क्षेत्रों की व्यवस्था चार ही थे । अन्य विषयों की व्यवस्था के लिये मंत्रिमण्डल की स्थापना की गई थी । ये मंत्रीगण दस से अधिक नहीं होने चाहियें थे और मंत्रिमण्डल पद्धति के आधार पर संगठित होने की व्यवस्था थी और इसीलिये धारा सभा के प्रति उत्तरदायी रहना भी आवश्यक था । प्रोफेसर के० टी० शाह के मतानुसार "नए संविधान के अन्तर्गत संघीय मंत्रिमण्डल की स्थिति आलंकारिक है, जिसका कोई उपयोग नहीं है जो प्रतिनिधित्व किये जाने वाली जनता के लिये कभी सहायक नहीं ; यह ऐसा उत्तरदायित्व है, जो बिना अधिकार के है ; यह ऐसी पदवी है, जिसका कुछ भी सामर्थ्य नहीं ; यह ऐसा नाम है, जिसका वास्तविक प्रभाव नहीं ।" (फिडरल स्ट्रक्चर–पृष्ठ २२३) ।

(५) भारतीय व्यवस्थापिकाओं के अधिकार अत्यन्त सीमित थे । कुछ विषयों पर तो उन्हें विचार करने का भी अधिकार नहीं था; कुछ पर गवर्नर जनरल की अनुमति से विचार कर सकती थी और अन्त में उनके द्वारा स्वीकृत कोई भी प्रस्ताव किसी भी स्तर पर रोका भी जा सकता था । इस प्रकार नियम निर्माण का अधिकार नाम मात्र का सा प्रतीत हुआ ।

(६) बजट के सम्बन्ध में ८०% पर उन्हें मत प्रकट करने का अधिकार नहीं था और शेष भाग पर भी उनके विचारों पर गवर्नर जनरल के विशेषाधिकार व्याप्त हो सकते थे ।

(७) एक संघीय न्यायालय की स्थापना का विधान था जिसका अधिकार क्षेत्र सम्पूर्ण भारतवर्ष में व्याप्त था । उसमें एक मुख्य न्यायाधीश तथा दो अवर न्यायाधीशों की व्यवस्था थी और न्यायालय को मौलिक एवं अपील संबंधी दोनों प्रकार के अधिकार प्राप्त थे ।

(८) इङ्गलैंड स्थित भारतमंत्री की भारतीय कौंसिल को समाप्त कर दिया गया और कुछ परामर्शदाता नियुक्त कर दिये गये ।

(६) प्रांतों में गवर्नर और केन्द्र में गवर्नर जनरल को व्यक्तिगत निर्णय के अधिकार और विशेषाधिकारों के रूप में सर्वाधिक अधिकार दे दिये गये और उन्हें कुछ विस्तृत संरक्षण (special responsibilities) का कार्य सौंप कर और भी अधिक शक्तिशाली बना दिया गया ।

(१०) इसका संशोधन केवल ब्रिटिश सरकार ही कर सकती थी ।

(११) इस अधिनियम की सबसे अच्छी विशेषता थी 'प्रांतीय स्वराज्य' की स्वीकृति। इस व्यवस्था द्वारा प्रांतों में पूर्ण उत्तरदायित्व वाली सरकार की स्थापना हुई।

अब हम इसके पश्चात् जो वास्तविक व्यवस्था इस अधिनियम के अनुसार हुई उसका विस्तृत वर्णन करेंगे।

गृह सरकार—भारतवर्ष के शासन से सम्बन्धित जो संगठन इङ्गलैंड में स्थित था उसे गृह सरकार की संज्ञा दी गई थी इसकी स्थापना सन् १९५८ के एक्ट द्वारा कर दी गई थी और बाद के अनेक अधिनियमों द्वारा इसमें परिवर्तन भी होते गये। सन् ३५ के एक्ट द्वारा पुनः पर्याप्त परिवर्तन किया गया। इसके द्वारा प्रांतों में स्वराज्य स्थापित किया गया था इसलिए यहाँ के लोकप्रिय मंत्रियों को पर्याप्त अधिकार प्राप्त हो गये थे। इसलिये प्रांतीय शासन पर भारत मंत्री (Secretary of State for India) का नियन्त्रण कम हो गया। इसी प्रकार केन्द्र में भी जो अधिकार मंत्रियों को मिले, उन पर से भारतमंत्री का नियन्त्रण कम हो गया। इसी प्रकार से गवर्नर और गवर्नर जनरल के भी विशेषाधिकार आदि के क्षेत्र से उसका प्रभाव कम हो गया फिर भी कुछ अधिकार बराबर बने रहे। सेवाओं की नियुक्तियाँ, गवर्नर तथा गवर्नर जनरल को भेजे जाने वाले निर्देशपत्र आदि द्वारा वह अपने अधिकारों का उपयोग करता था।

परामर्शदाता—पहले से चली आयी भारतीय कौंसिल के स्थान पर तीन से छः तक परामर्शदाता नियुक्त करने का अधिकार मिला था। ये पाँच वर्ष के लिये नियुक्त होते थे। इनके लिये भारतवर्ष का १० वर्ष के निवास का अनुभव अनिवार्य था। वे अपना परामर्श पूछने पर देते थे। व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से परामर्श लिया जा सकता था और परामर्श को मानना भी भारतमंत्री की स्वेच्छा पर अवलम्बित था।

भारतीय हाई कमिश्नर—सन् १९१९ के अधिनियम द्वारा इस पद का सृजन हुआ था। इसकी नियुक्ति भारत का कौंसिल स्थित गवर्नर जनरल करता था। वही इसे हटा भी सकता था इसका कार्यकाल भी पाँच वर्ष होता था। वेतन भारतीय कोष से ३००० पौंड मिलता था। उसके कार्य थे, इंगलैंड में गवर्नर जनरल के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करना, स्पेर विभाग का कार्य करना, भारतीय विद्यार्थियों की देख-रेख करना और अन्य कोई कार्य जो भारत के हित में उसके सुपर्द किया जाय।

संघीय सरकार—इस अधिनियम के द्वारा जो संघीय सरकार की योजना थी, **गवर्नर जनरल** उसमें केन्द्र बिन्दु था। उसकी नियुक्ति सम्राट द्वारा की जाती थी। वह मंत्रिमण्डल के परामर्श पर, अपने व्यक्तिगत विवेक के अनुसार और स्वेच्छापूर्वक विशेष अधिकारों के अनुसार, तीन प्रकार से अपना कार्य करता था। इनके क्षेत्र भी भिन्न २ थे। मंत्रिमण्डल के अधिकार क्षेत्र में उनके परामर्श पर, उसके विशेष उत्तरदायित्वों के क्षेत्र में उनसे अनिवार्य रूप से परामर्श करके स्वयं के निर्णय द्वारा और महत्वपूर्ण विषयों पर स्वेच्छापूर्वक अधिकारों का प्रयोग करता था। प्रांतों

और रियासतों का क्षेत्र भी उसी के अन्तर्गत था। इनका प्रशासन वह अनुदेश पत्र प्रसारित करते हुये करता था। नियम निर्माण के क्षेत्र में वह बहुत शक्तिशाली था। कई नियमों के प्रस्ताव उसकी पूर्व स्वीकृति बिना नहीं हो सकते थे। अन्य प्रस्तावित नियमों को वह किसी भी स्तर पर रोक सकता था। पारित नियम को पुनः विचार के लिये भेज सकता था और रोक भी सकता था। बजट के सम्बन्ध में भी उसके विस्तृत अधिकार थे। आवश्यकता के समय वह स्वयं नियम बना सकता था। न्याय के क्षेत्र में भी उसे पर्याप्त शक्तियाँ थीं जिनके द्वारा न्यायाधीशों की नियुक्तियां, क्षेत्राधिकार का सीमा परिवर्तन आदि कर सकता था।

शासक परिषद—गवर्नर जनरल की सहायता के लिये एक ७ सदस्यों की शासक परिषद थी जिनमें सेनापति, गृह-सदस्य, वित्त सदस्य आदि सम्मिलित थे। ये सदस्य भारत मंत्री के परामर्श से सम्राट द्वारा नियुक्त होते थे। इनकी अवधि पाँच साल की थी। वेतन ८० हजार वार्षिक था। इनकी योग्यतायें भी भिन्न-भिन्न अनिवार्य रक्खी गई थीं। गवर्नर जनरल इसका अध्यक्ष होता था और उन सदस्यों में से एक को उपाध्यक्ष नियुक्त करता था। इस परिषद की कार्यवाही गुप्त होती थी। मतभेद के लिये बहुमत से निर्णय होता था। बाद में २१ जुलाई सन् १९४१ को ३० सदस्यों की एक राष्ट्रीय प्रति रक्षा परिषद (National Defence Council) भी बनाई गई थी। यह सिर्फ परामर्शदात्री संस्था थी। इसी प्रकार **मंत्रिमण्डल** की स्थापना भी गवर्नर जनरल की सहायता के लिये ही की जाती थी। **संघीय विधान** मण्डल, उसका निर्माण, संगठन और अधिकार भी व्यापक थे। इस प्रकार पूर्णरूप से संगठित और नियमानुसार संघीय सरकार की स्थापना की गई थी; किन्तु वास्तव में यह सब ऊपरी दिखावा मात्र था। मंत्रिमण्डल और विधान-मण्डल को कोई भी वास्तविक अधिकार या सम्मान नहीं था। हर क्षेत्र में प्रत्येक चरण पर गवर्नर जनरल हस्तक्षेप करने का अधिकारी था। इसीलिये मंत्रिमण्डल और विधान सभा इनके अधिकार और मर्यादाओं का विस्तार से वर्णन करना उपयोगी प्रतीत नहीं होता।

प्रांतीय सरकार—प्रांतों में यद्यपि स्वराज्य की स्थापना हुई थी किन्तु वहाँ की गवर्नरों की स्थिति ठीक केन्द्र में गवर्नर जनरल की स्थिति के समान थी। केवल यह भेद था कि केन्द्र में शासक परिषद अलग होती थी प्रांत में यह नहीं थी। प्रांतों में गवर्नर की नियुक्ति सम्राट द्वारा होती थी और उसके अधिकार उसी प्रकार व्यक्तिगत निर्णय के अधिकार, विशेषाधिकार और सामान्य अधिकार होते थे। नियम निर्माण के क्षेत्र में, प्रशासन में, न्याय क्षेत्र में, वित्तीय सीमा में, गवर्नर जनरल की भाँति ही वे प्रांतों में शक्तिशाली थे। वे मंत्रियों को नियुक्त तथा पदच्युत कर सकते थे। अध्यादेश प्रसारित कर सकते थे। लोक सेवा आयोग के सदस्यों की नियुक्ति करते थे और आवश्यकता के समय संविधान भी स्थगित कर सकते थे। उपरोक्त प्राविधान यह सिद्ध करते हैं कि मंत्रियों के अधिकार सीमित थे। प्रांतीय विधान मण्डलों का संगठन भी किया गया था। ६ प्रान्तों में दो सदनीय और पाँच

प्रांतों में एक सदनीय विधान मण्डल था। उनकी शक्तियाँ भी वास्तविक रूप में नहीं के समान थीं। औपचारिक रूप में सभी क्षेत्रों में पर्याप्त अधिकार दिये गये थे; किन्तु गवर्नर की इच्छा के विपरीत या उनके शासन में हस्तक्षेप की दृष्टि से कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रान्तीय स्वराज्य की स्थापना द्वारा, चाहे नाटक के रूप में ही सही, भारतवासियों को शासन करने के अनुभव का अवसर मिला।

न्याय व्यवस्था—सन् १९३५ तक प्रांतों में हाईकोर्ट तक की स्थापना की हुई थी। नए अधिनियम के द्वारा संघीय न्यायालय की स्थापना भी की गई। इसके ऊपर इंगलैंड की 'प्रिवी कौंसिल' थी जो अपीलें सुनती थी। इन न्यायालयों का संगठन निम्न प्रकार से श्रृंखलाबद्ध था:—

प्रिवी कौंसिल (इंगलैंड)

संघीय न्यायालय (भारत में सर्वोच्च न्यायालय)

स्थान—देहली

प्रांतीय उच्च न्यायालय

राजस्व मण्डल (Revenue Board)

१. कमिश्नर (आयुक्त)
२. कलक्टर (जिलाधीश)
३. तहसीलदार

दीवानी शाखा	फौजदारी शाखा
१. जिला जज का न्यायालय	१. सेशन्स जज का न्यायालय
२. सिविल जज का न्यायालय	२. प्रथम श्रेणी मजिस्ट्रेट का न्यायालय
३. मुंसिफ का न्यायालय	३. द्वितीय श्रेणी मजिस्ट्रेट न्यायालय
४. खफीफा न्यायालय (Small cause court)	४. तृतीय श्रेणी मजिस्ट्रेट का न्यायालय

यह न्याय व्यवस्था अच्छे ढंग से की गई थी। यद्यपि संघ के सिद्धान्तों के अनुसार ही संघीय न्यायालय की स्थापना की गई थी किन्तु फिर उसकी अपील के लिए 'प्रिवी कौंसिल' में जाने का जो मार्ग खुला रक्खा, वह सिद्धान्त के विरुद्ध भी था।

स्वायत्त शासन व्यवस्था—सन् १८८२ में लार्ड रिपन ने इन संस्थाओं की स्थापना की थी और उनकी शक्तियाँ भी पर्याप्त थीं किन्तु उस समय प्रत्येक जिले का जिलाधीश ही इन संस्थाओं का सभापति होता था। सन् १९१९ के अधिनियम द्वारा इस स्वशासन को और अधिक प्रोत्साहन मिला था और इन पर लगे हुए प्रतिबन्ध कम कर दिये गए थे तथा इनकी सीमाओं में अधिक स्वतन्त्रता दी गई थी। सन् १९३५ के विधान द्वारा इन संस्थाओं को और अधिक कार्य क्षेत्र मिला। इस

विधान के बाद प्रांत में एक स्वायत्त शासन मंत्री का पद बन गया पंचायतें और नगरपालिकाएँ प्रांतीय विषय बन गईं। कई प्रांतों ने अपने पंचायत नियम पास किये और तदनुसार प्रत्येक ग्राम में ग्राम पंचायतों की स्थापना की गई। ये पंचायती ग्राम की पर्याप्त व्यवस्था करने लगी और स्वायत्त शासन का प्रयाप्त विकास हुआ।

उपसंहार—उपरोक्त वर्णन के पश्चात् ब्रिटिश शासन के प्रति हम यह कह सकते हैं कि तत्कालीन ब्रिटिश प्रशासन संगठित और व्यवस्थित था। सम्पूर्ण देश में विदेशियों की दृष्टि में जो न्याय था उसकी अच्छी व्यवस्था थी। विदेशी आक्रमणों से सुरक्षित और आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त रूप में विकसित था। आवागमन के साधनों का बहुत विकास हुआ। पाश्चात्य शिक्षा द्वारा साहित्य और ज्ञान का अच्छा प्रचार हुआ और संसार के विभिन्न देशों से सम्पर्क बढ़ाने का अवसर भी मिला। प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में भी भारत को स्थान दिलवाया था। इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया जाना चाहिए कि आधुनिक भारतवर्ष की वर्तमान शासन प्रणाली की वास्तविक आधारशिला प्राचीन ब्रिटिश शासन का संगठन ही है और स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये भी हम ब्रिटिश परम्पराओं और उनकी उदारता के प्रति आभारी हैं।

अभ्यास के लिये प्रश्न

१. **ब्रिटिश शासन पद्धति की मुख्य मुख्य विशेषताएँ बताइये।**

२. **ब्रिटिश युग की न्याय व्यवस्था और स्वायत्त शासन पर विस्तृत टिप्पणियाँ लिखिए।**

३. **स्थानीय शासन का संक्षिप्त विकास लिखिए।**

—:०:—

अठारहवां अध्याय

सामाजिक एवं धार्मिक आन्दोलन

प्रस्तावना—मुगल साम्राज्य के पतन के बाद पहले मराठों का बल बढ़ने लगा किन्तु बाद में युक्ति और शक्ति द्वारा अंग्रेजों ने भारतवर्ष पर अपना राज्य स्थापित कर लिया। इस समय भारतीय समाज में धर्म का वास्तविक रूप धुंधला हो रहा था और सम्प्रदाय आदि के नाम पर चलने वाले आडम्बर, अन्धविश्वास और कुरीतियाँ प्रधान बन गई थीं। जातिवाद के कारण समाज में ऊँच नीच का भेद बहुत अधिक हो गया था। ऐसे अवसर पर ईसाइयत का बढ़ता हुआ प्रभाव और शिक्षा द्वारा पश्चिमी सभ्यता में बढ़ने वाले नवयुवकों की स्वच्छन्द वृत्तियों के कारण हिन्दू समाज शोचनीय स्थिति में आ गया था। ईसाई मिशनरियों ने अपने धर्म का प्रचार आरम्भ कर दिया और नीच जाति के समझे जाने वाले हिन्दुओं को गले लगाकर ईसाई बनाना आरम्भ कर दिया। उनकी एक बन्धुत्व की भावना के कारण अशिक्षित लोग आकर्षित भी होने लगे। यद्यपि यह भी सच है कि विदेशियों के अध्ययन द्वारा भारतीय धर्म और संस्कृति के उज्ज्वल रूप का भी विश्वास भारतवासियों को हो रहा था, तथापि भारतवासियों में यह साहस नहीं हो रहा था कि भारतीय जनता के सम्मुख भारतीय धर्म और संस्कृति का स्वास्थ और शुद्ध रूप उपस्थित करे और अनावश्यक कुरीतियों और रूढ़ियों के निवारण का यत्न करे। ऐसी स्थिति में भारतीय विचारकों ने अपने समाज और धर्म की रक्षा के लिए आन्दोलन आरम्भ किये। इन सभी आन्दोलनों का उद्देश्य हिन्दू समाज में प्रचलित बुराइयों को दूर करना और प्राचीन धर्म ग्रन्थ वेद, उपनिषद आदि से प्रेरणा लेकर धर्म के शुद्ध रूप की स्थापना करना था। बाद में इन्हीं आन्दोलनों ने अप्रत्यक्ष रूप से यहाँ की राजनैतिक प्रगति में भी योग दिया।

ब्रह्म समाज

सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों का श्रीगणेश सर्वप्रथम राजा राममोहन राय ने किया। इनका जन्म २२ मई सन् १७७२ ई० को बंगाल के बर्दवान जिले के राधानगर ग्राम में हुआ था। ये संस्कृत, फारसी, अरबी, लैटिन और इब्रानी भाषाओं के अच्छे विद्वान थे, इनकी विवेक शक्ति बड़ी तीव्र थी। इनके जीवन का उद्देश्य भारतीय धर्म और सभ्यता की संकलित मनोवृत्ति, आडम्बर और अन्धविश्वास के घातक प्रभाव से तथा ईसाई धर्म और सभ्यता के आक्रमण से रक्षा करना था। इसी दृष्टि से सर्वप्रथम उन्होंने विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया और सब धर्मों के तथ्य को जान लिया। वेद और उपनिषदों के ज्ञान से उन्हें यह प्रेरणा मिली कि भारतीय समाज में क्रांतिकारी परिवर्त्तन अनिवार्य है। सन् १८०५ से १८१४

तक उन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी में नौकरी की और अंग्रेज शासकों और व्यापारियों के सम्पर्क में आये। राजा राममोहन राय को मूर्ति पूजा और कर्मकाण्ड में विश्वास नहीं हुआ इसलिए वे केवल एक परमात्मा की पूजा पुनः प्रचलित करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने सन् १८१५ में आत्मसभा और फिर २० अगस्त सन् १८१८ को 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की। सन् १८२० के लगभग इन्होंने ईसाई धर्म पर एक पुस्तक भी लिखी थी जिसमें यह सिद्ध किया कि ईसा की कथायें कल्पित हैं उन्होंने यह भी लिखा था कि "यह स्वाभाविक बात है कि विजयी जाति अपने अधीन जाति के धर्म की खिल्ली उड़ाया करती है, स्वयं अपना धर्म कितना ही हास्यास्पद हो उधर ध्यान नहीं जाता।" यह अंग्रेजों के धर्म प्रचार का प्रथम किन्तु करारा उत्तर था। थोड़े ही समय इस समाज का संचालन किया और २७ सितम्बर सन् १८३३ को ब्रिस्टल में उनका देहावसान हो गया। किन्तु उनके द्वारा आरम्भ किया हुआ कार्य उनके मित्रों और अनुयायियों ने पूरा किया।

ब्रह्म समाज सिद्धान्त बहुत गम्भीर अध्ययन और विचार के बाद निर्धारित किये गये थे। इस समाज के मतानुसार ईश्वर केवल एक है। (एकेश्वरवाद) जो सर्वशक्तिमान है और संसार का सृजनहार है। उसकी उपासना सच्चाई और स्नेह के साथ होनी चाहिए, वह मोक्षदाता है। मूर्ति पूजा के विरुद्ध है तथा विश्व बन्धुत्व में विश्वास करते हैं। आत्मा की अमरता में भी इनका विश्वास है। प्रायश्चित्त द्वारा पापों से छुटकारा पाया जा सकता है। जाति पांति के ये लोग विरोधी हैं और खान-पान में स्वतन्त्रता स्वीकार करते हैं। ब्रह्म समाज का धर्म बहुत उदार है इसमें मुसलमानों और ईसाई धर्मों के तत्वों का भी समावेश हुआ है। वास्तव में उस समय हिन्दू धर्म को अपनी विशालता, उदारता और सहिष्णुता बतानी ही चाहिए थी। उनके देहावसान के पश्चात् महर्षि देवेन्द्रनाथ टेगोर और बाबू केशवचन्द्र सेन ने इस संस्था का नेतृत्व किया। इस समय ब्रह्म समाज ईसाई धर्म से प्रभावित होने लगा था इसलिए ब्रह्म समाज की दो शाखायें हो गईं जिनका नाम प्रार्थना समाज और आदि समाज हो गया, जो अभी तक जीवित है।

ब्रह्म समाज ने भारतीय समाज में अद्‌भुत क्रांति को जन्म दिया है। इससे भारत में प्रचलित झूठे विचार, घृणित रीति रिवाज, संकुचित मनोवृत्ति और व्यर्थ के पूजा पाठ के आडम्बर दूर हो गये। सामाजिक सुधार आरम्भ हो गये। उन्होंने 'सती प्रथा' का खुलकर विरोध किया और सन् १८२९ में गवर्नर जनरल विलियम बैंटिक के समय में नियम द्वारा यह कुप्रथा सदैव के लिए समाप्त कर दी। इसी प्रकार जाति पांति, पुरुषों के अनेक विवाह (Polygamy) प्रथा, छोटी आयु में विवाह करने की प्रथा आदि कई कुरीतियों को बन्द करने का वातावरण तैयार कर दिया। विधवा पुनर्विवाह के वे समर्थक थे और स्वतन्त्रता के अनन्य पुजारी। इण्डियन प्रेस की स्थापना राजा राममोहन राय ने ही की थी। वे अंग्रेजी शिक्षा के पक्ष में भी थे इसीलिए उन्होंने शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रखने के विचार का समर्थन किया था। इस प्रकार इस समाज ने भारतवासियों को प्रेरणा दी कि वे अंग्रेजी सत्ता को

समझकर उसे अपनाने के स्थान पर उखाड़ फेंकने का दृढ़ निश्चय करें। महिला शिक्षा का प्रचार करने में भी ब्रह्म समाज ने बहुत परिश्रम किया। वास्तव में इस समाज का सबसे अधिक महत्त्व इसलिए है कि आगे आने वाले सुधारकों और आन्दोलनों के लिए इन्होंने मार्ग प्रशस्त बना दिया इसी ढंग पर चलने से आन्दोलन सफल हुए। अन्यथा शुद्ध रूप से धार्मिक अथवा राजनैतिक आन्दोलन न तो आरम्भ करना सम्भव था और न विदेशी सत्ता उन्हें आगे बढ़ने देती। इसलिए ब्रह्म समाज का महत्त्व सबसे अधिक माना जाता है।

आर्य समाज

भारत के दूसरे महान् आन्दोलन की स्थापना 'आर्य समाज' के रूप में सन् १८७५ में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने बम्बई में की। इस संस्था द्वारा भारत में अपूर्व जन जागृति हुई। जनता में स्वाभिमान संस्कृति के प्रति सम्मान और स्वतन्त्रता प्राप्ति की भावना उत्पन्न हुई। स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म काठियावाड़ प्रान्त के मोरवी ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम अंबाशंकर और इनका जन्म-नाम मूलशंकर था। इनकी स्मृति बहुत अच्छी और बुद्धि प्रखर थी। अल्पायु में ही इन्होंने वेदों का अध्ययन समाप्त कर लिया था। संस्कृत व्याकरण का इन्हें गहरा ज्ञान था। एक दिन शिवरात्रि की घटना से ही इनके मन में क्रांति हो गई। शिव जी की प्रतिमा की स्थापना और पूजा होने के बाद इन्होंने देखा कि एक चूहा शिव प्रतिमा का प्रसाद ले गया। उसी समय इन्होंने सोचा कि जो देवता अपनी ही रक्षा नहीं कर सकता और दूसरों की रक्षा क्या करेगा और मूर्ति पूजा का विरोध करने लग गये। इसके थोड़े समय पश्चात् परिवार में एक दो मृत्यु हो गई। इन सब घटनाओं से उनके मन पर गहरी चोट सी लगी और वे अधिक तन्मयता से विद्याध्ययन में लग गये और वेद, न्याय, साहित्य, व्याकरण आदि सब का ज्ञान प्राप्त कर लिया। फिर भी शांति न मिलने पर सन् १८४५ में वे अचानक घर छोड़कर चले गये और पन्द्रह वर्ष तक निरन्तर पर्वत, गुफा, नगर आदि स्थानों में घूमते रहे। मौन भी रहे, ब्रह्मचर्य से रहे, केवल संस्कृत भाषा का ही उपयोग किया। अन्त में मथुरा में स्वामी विरजानन्द जी एक नेत्रहीन संत इन्हें मिले और उनको गुरु बनाया। दो वर्ष तक स्वामी जी के चरणों में रहे और फिर दीक्षा प्राप्त कर अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया।

यद्यपि नवीन अंग्रेजी शिक्षा से अनभिज्ञ थे तथापि संस्कृत, व्याकरण आदि के प्रकाण्ड पंडित थे। अपने उद्देश्यों को पूरा करने की दिशा में उन्होंने एक पुस्तक लिखी जिसे 'सत्यार्थप्रकाश' कहते हैं। यह आर्यसमाजियों का स्वामी जी द्वारा लिखित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें आर्यसमाज के निम्न दस नियमों का प्रतिपादन किया गया है :—

१. ईश्वर सत् चित् आनन्द है। वह निराकार, न्यायपूर्ण, दयालु, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक एवं अमर है।

२. ईश्वर ही ज्ञान का परम कारण है।

३. वेद ही ज्ञान का भण्डार है तथा प्रत्येक आर्य को इनका अध्ययन करना चाहिये।

४. प्रत्येक व्यक्ति सत्य ग्रहण करे तथा असत्य को त्यागे।

५. प्रत्येक कार्य उसके औचित्य को ध्यान में रखकर ही करना चाहिए।

६. समाज का उद्देश्य मानव जाति की हर प्रकार की उन्नति करना है।

७. प्रत्येक के साथ उसके गुणों के अनुसार प्रेम और न्यायपूर्ण व्यवहार करना चाहिए।

८. अविद्या का नाश और विद्या का प्रचार करना चाहिए।

९. प्रत्येक को सर्वसाधारण की उन्नति में ही अपनी उन्नति समझना चाहिए।

१०. व्यक्तिगत विषयों में प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र होना चाहिए और सामाजिक कार्यों के लिए परस्पर भेद भुला देने चाहियें।

इसके अतिरिक्त मूर्ति पूजा का खण्डन वेदों की सत्य का मण्डन और उनके द्वारा कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त का समर्थन प्राचीन कर्मकाण्ड और पुरोहितवाद का विरोध भी उनके सिद्धान्त ही थे। शुद्धि आन्दोलन द्वारा वास्तव में स्वामी जी ने हिन्दू धर्म को बचा लिया। अभी तक हिन्दू धर्म से जाने वालों को पुनः अपनाने का मार्ग बन्द था। स्वामी जी के शुद्धि आन्दोलन द्वारा अभूतपूर्व क्रांति हुई और हिन्दू धर्म को ऐसी संजीवनी प्राप्त हो गई कि लाखों हिन्दू अछूत तो धर्म परिवर्त्तन करके पछता रहे थे पुनः हिन्दुत्व प्रदान कर दिया। यज्ञ-हवन, प्रार्थना, सत्संग आदि का पुनः प्रचार होने लगा। आर्यसमाज के प्रचार में स्वामी दयानन्द सरस्वती का तेज, सुडौल और स्वस्थ शरीर, आकर्षक व्यक्तित्त्व और विलक्षण वक्तृत्त्व शक्ति ने बहुत काम किया। उन्होंने कहा कि जाति पांति व्यर्थ है। स्त्रियों को समाज में समान स्थान मिलना चाहिए और शिक्षा प्रणाली भी प्राचीन परिपाटी के अनुसार होनी चाहिए। सन् १८७२ में कलकत्ता जाने पर स्वामी जी ने देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन से भी वार्त्तालाप किया और तब से हिन्दी बोलना प्रारम्भ कर दिया। अब वे अधिक जनता के सम्पर्क में आये। राजस्थान में जब स्वामी जी पधारे तो राजा महाराजाओं ने भी उनका स्वागत किया। महाराणा सज्जनसिंह जी ने उसी समय उनके प्रभाव से राज्य का काम काज हिन्दी में आरम्भ कर देने की आज्ञा प्रेषित कर दी थी। वे वास्तव में निर्भय, आत्मविश्वासी और परम ईश्वर भक्त थे।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी संस्था आर्यसमाज द्वारा अन्य समाज सुधार के कार्यों में भी सफलता प्राप्त की। प्राचीन और नवीन ढंग की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और कन्याओं की शिक्षाओं का विशेष प्रबन्ध, बाल विवाह, पर्दा और दहेज प्रथा का निवारण आदि भी इस स्थान से किया। श्री हंसराज, लाला लाजपतराय और अन्य लोगों ने इस कार्य में बहुत सहयोग दिया। गुरुकुल (कांगड़ी) की स्थापना १९०२ में हुई। जालन्धर में कन्या महाविद्यालय की स्थापना की गई।

इनके अतिरिक्त अपनी संस्था के समाचार-पत्र निकालना, अनाथ बालकों की रक्ष के लिए अनाथालयों की स्थापना, विधवा आश्रम और महिला आश्रमों (Rescue Homes) की स्थापना तथा राष्ट्रीय सेवा सम्बन्धी संगठनों की स्थापना में भी ये संस्थायें जुटी रहीं। यही कारण है कि मुस्लिम और ईसाई धर्मों की बाढ़ का प्रकोप रुक सका। आर्यसमाज ने हिन्दुओं को सचेत कर समर्थ बना दिया। अभी तक हिन्दू बहुत सीधा साधा जीव था जिसे हर प्रकार और धर्म के लोग जो चाहें सुना देते थे। आर्यसमाज ने उसमें पुरुषत्व का बोध करा दिया और शेष सब लोग उसके प्रकाश से चौंधियाने लगे। इसके अतिरिक्त आर्यसमाज ने सबसे बड़ी सेवा राष्ट्रीय भावना को जाग्रत करने में की। स्वराष्ट्र की भावना, हिन्दी भाषा का विकास और अपनी संस्कृति में स्वाभिमान अपरोक्ष रूप से स्वतन्त्रता की ओर चलने के सोपान थे। इस प्रकार आर्यसमाज ने भारत की अद्भुत सेवा की है।

रामकृष्ण मिशन

इसी संस्था को वेदान्त समाज भी कहते हैं। यह संस्था बंगाल के प्रसिद्ध महात्मा रामकृष्ण परमहंस के नाम पर उनके अद्भुत एवं परम शिष्य स्वामी विवेकानन्द द्वारा सन् १८९७ में स्थापित की गई थी। इसका मुख्य उद्देश्य परमहंस स्वामी रामकृष्ण के उपदेशों का प्रसार करना था। पहले स्वामी विवेकानन्द नास्तिक थे किन्तु परमहंस के साथ रहने पर ईश्वर में विश्वास करने लगे। सन् १८९२ से इन्होंने गुरु के सिद्धान्तों का प्रचार आरम्भ कर दिया था। सन् १८९३ में ये विश्व के सर्वधर्म सम्मेलन में भाग लेने शिकागो (अमेरिका) गये। वहाँ सर्वप्रथम पश्चिमी देशों के लोगों को वेदान्त की महत्ता स्वामी जी ने प्रकट की जिसे सुन कर सब लोग चकित हो गये। विदेशों में हिन्दू धर्म का सन्देश पहुँचाने का बहुत बड़ा कार्य स्वामी जी ने किया। पुनः भारत आकर उन्होंने वेदान्त समाज का संगठन कर समाज सेवा आरम्भ की। स्वामी जी की वेदान्त व्याख्या, वर्णन-शैली और हृदयस्पर्शी वाणी में बड़ा चमत्कार था। वे स्वयं कर्मठ सन्यासी, धुरन्धर विद्वान और वेदों के प्रकाण्ड पंडित थे। वे देश विदेश सर्वत्र भ्रमण कर आये थे इसलिए पूर्व और पश्चिम की सभ्यता के समन्वय में इनका बहुत महत्त्वपूर्ण योग रहा है।

रामकृष्ण मिशन का प्रधान कार्यालय बैलूर-मठ में है और इसकी शाखायें देश के भिन्न-भिन्न स्थानों एवं विदेशों में संगठित की हुई हैं। आध्यात्मिक शिक्षा की दृष्टि से मिशन सस्ते और अनमोल साहित्य का प्रकाशन करता है। यह मिशन किसी धर्म विशेष का प्रचार नहीं करता चाहे इसका दृष्टिकोण वेदान्ती है। इसमें सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखा जाता है। मिशन सेवा-कार्य पर अधिक बल देता है। चिकित्सालय, विद्यालय आदि चलाना, अकाल, भूकम्प, बाढ़ आदि आपत्तियों के समय जनता की सेवा करना, छुआछूत का निवारण, बालविवाह को रोकना, स्त्रियों की दशा सुधारना आदि कार्यों में संलग्न रहता है।

इस मिशन के आधारभूत सिद्धान्तों का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है

कि परमहंस जी का विश्वास था--ईश्वर निराकार है तथा मनुष्य के ज्ञान से परे है किन्तु प्रत्येक वस्तु में ईश्वर विद्यमान है। संसार का प्रत्येक कार्य ईश्वर के द्वारा ही सम्पादित होता है। संसार के सब धर्म समान हैं इसलिए धर्म परिवर्तन व्यर्थ है, प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही धर्म का आचरण करना चाहिए। प्रत्येक धर्म अच्छा है। आत्मा ईश्वरीय है। हिन्दू सभ्यता संसार में सर्वश्रेष्ठ और अति प्राचीन है। यही श्रेय और प्रेय दोनों है। इसमें सत्यं-शिवं-सुन्दरम् की अनुभूति है। पाश्चात्य जगत भौतिकवादी है और भारत आध्यात्मिक, इसलिए भारत ही सदैव जगतगुरु रहा है और रहेगा।

इस प्रकार के धर्म और समाज का प्रभाव भारत में और विदेशों में होना स्वाभाविक था। यद्यपि स्वामी जी स्वयं केवल उनचास वर्ष की आयु में ही संसार छोड़ गये किन्तु इस अल्पकाल में ही उनका प्रभाव इतना अधिक हो गया था कि यूरोप और एशिया उनके उपकार से कभी उऋण नहीं हो सकेगा। उन्होंने भारत में आत्मगौरव की भावना जागृत की और अपनी संस्कृति, इतिहास और आध्यात्मिकता की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया। इस प्रकार इस मिशन ने धर्म, समाज और राजनीति तीनों क्षेत्रों में महान् सुधार किये।

थियोसोफिकल समाज

इस समाज की स्थापना सर्वप्रथम अमेरिका के न्यूयार्क नगर में सन् १८७५ में हुई थी। श्रीमती ब्लावाट्स्की (रूसी महिला) और कर्नल ऑलकॉट (अमरीकी) इस संस्था के जन्मदाता थे। ये दोनों प्रेत विद्या के अच्छे जानकार थे। बाद में ब्रह्म विद्या की ओर इनका झुकाव हुआ था। इनके विचार बड़े उदार और निर्मल थे। इनका विश्वास था कि समूचा विश्व विकास की दैवी योजना पर आधारित है और प्रत्येक धर्म तथा राष्ट्र उसी क्रम को व्यक्त करता है। किसी भी धर्म का दूसरे से विरोध नहीं हो सकता। सन् १८७६ में ये दोनों हिन्दुस्तान में आये और मद्रास के निकट उडयार ग्राम में अपना समाज स्थापित कर दिया। कर्नल ऑलकॉट ने समस्त देश का भ्रमण किया और यह आपत्ति की कि प्रचारकों द्वारा ईसाई धर्म भारतवासियों पर जबरन थोपा जा रहा है यह विकास क्रम के विरुद्ध है। ये लोग मानते थे कि सब धर्मों में सत्य का तत्त्व है और भारत के धर्म में यह तत्त्व विशेष रूप से है।

इंगलैंड में एनीबीसेंट नामक एक आइरिश महिला इस संस्था की सदस्य बनीं और सन १८६३ में लगभग छियालीस वर्ष की अवस्था में वह भारत आईं। वह भारत के हिन्दू धर्म से बहुत प्रभावित हुईं। उसने साड़ी पहनना और ब्राह्मणों की भांति भोजन आदि आरम्भ कर दिया। हिन्दू तीर्थों की यात्रा की। उसे काशी बहुत अच्छा लगा और वहीं रहने लगीं। यहां उसने केन्द्रीय हिन्दू कालेज की स्थापना की और गीता का अंग्रेजी अनुवाद किया। उन्होंने हिन्दू धर्म स्वीकार कर लिया और वेदान्त के आदर्शों का प्रचार करने लग गईं।

थियोसोफिकल समाज वास्तव में सर्वधर्म समाज है। पश्चिम के भौतिकवाद और हिन्दुओं के अन्ध-विश्वास का यह विरोधी है। यह विश्व बन्धुत्व में विश्वास करता है और सब मनुष्यों की समानता का समर्थक है। ईश्वर की एकता और सर्वशक्तिमत्ता में इसका विश्वास है। आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानता है और बन्धुता और शान्ति जीवन के आदर्श माने जाते हैं। सामाजिक क्षेत्र में, जाति-पांति का विरोध, स्त्रियों की दशा सुधारने में योग और शिक्षा द्वारा चैतन्यता फैलाने का कार्य किया है। राजनैतिक क्षेत्र में भी डा० मिसेज बीसेन ने घोषणा की थी कि भारतवर्ष के स्वामी भारतीय ही हैं अतः उन्हें स्वराज्य (Home Rule) प्राप्त होना ही चाहिए। वास्तव में भारत में इस समाज की सफलता का श्रेय श्रीमती एनीबीसेंट को ही है। सन् १९१४ में भाषण करते हुए उन्होंने कहा था कि निरन्तर ४० वर्ष के चिन्तन और मनन के बाद मैं इस परिणाम पर पहुँची हूँ कि हिन्दू धर्म से बढ़कर वैज्ञानिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक धर्म संसार में कोई दूसरा नहीं है।

अन्य सुधार आन्दोलन

हिन्दू समाज के उपरोक्त आन्दोलनों के अतिरिक्त राधास्वामी सत्संग, प्रार्थना समाज, देव समाज आदि का उल्लेख भी किया जाता है। किन्तु वास्तव में ये देश-व्यापी आन्दोलन नहीं थे। इनका प्रभाव एक सीमित क्षेत्र में रहा है इसलिए इन्हें केवल प्रादेशिक आन्दोलन के रूप में ही स्वीकार किया जाता है।

राधास्वामी सत्संग—इसकी स्थापना सन् १८६१ ई० में श्री शिवदयाल जी महाराज ने की थी। इस समय भी इसका कार्यक्षेत्र दयालबाग आगरा में ही सीमित है। परन्तु समाज व शिक्षा के क्षेत्र में इस संस्था ने खूब सेवा की है। इसके प्रमुख सिद्धान्तों के अनुसार ईश्वर पूर्ण है और आत्मा ही ईश्वर है। ईश्वर की प्राप्ति में विश्वास करते हैं। आत्मा का पुनर्जन्म का सिद्धान्त मानते हैं और गुरु को ईश्वर का अवतार मानते हैं। इनका जाति-पांति में विश्वास नहीं है। आगरा में कालेज, कृषि और दूसरी संस्थायें अब भी सेवारत हैं।

प्रार्थना समाज—यह संस्था ईश्वर की पूजा और आराधना के लिए ही सन् १८६७ में डा० पांडुरंग के नेतृत्व में बम्बई में स्थापित की गई। इसके दो उद्देश्य थे—ईश्वर पूजा और समाज सुधार। इन लोगों पर ब्रह्म समाज का बहुत प्रभाव रहा है। इस समाज ने मजदूरों के लिए रात्रि-पाठशालायें, दलित जातियों के उद्धार के लिए दलित उद्धार मिशन, स्त्री शिक्षा के लिए महिला विद्यालय, अनाथों के लिए अनाथालय आदि की स्थापना की है। जस्टिस एम० जी० रानाडे और डा० आर० जी० भण्डारकर इसके प्रमुख सदस्यों में से थे। जस्टिस रानाडे ने समाज-सम्मेलनों की प्रथा चलाई और एक पत्र 'इन्द्र प्रकाश' चला कर जागृति में योग दिया। गोखले, तिलक और गणेश आगारकर भी इसके सदस्य थे। फर्गुसन कालेज की स्थापना, एक छोटी सी पाठशाला के रूप में, इसी संस्था ने की थी। बालविवाह बन्द करना,

जाति प्रथा का अन्त और स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन तथा विधवा पुनर्विवाह का समर्थन भी यह समाज अपना कर्त्तव्य समझता था।

देव समाज—इसकी स्थापना पं० शिवदयाल अग्निहोत्री द्वारा की गई थी। ये पहले ब्रह्म समाज में थे। उससे अलग होने पर इस समाज की स्थापना की थी। वे ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे इसलिए यह संस्था भी अनीश्वरवादी बन गई थी।

उपरोक्त आन्दोलनों के अतिरिक्त कुछ और आन्दोलन भी हुए हैं जिनके विस्तृत वर्णन की आवश्यकता नहीं है उनके केवल नाम जान लेना ही हमारे लिए पर्याप्त होगा। वे निम्न हैं :—

(१) भारत सेवा समिति (Servants of India Society—संस्थापक—गोपाल कृष्ण गोखले)।
(२) जन-सेवक समिति (संस्थापक—लाला लाजपत राय)।
(३) भारत सेवक समाज (नवीन संस्था—स्वतन्त्र भारत में)।
(४) सेवा सदन, पूना (स्थापित—सन् १८९९ में)।
(५) हरिजन एवं आदिवासी सुधार आन्दोलन।
 (अ) हरिजन सेवक संघ।
 (आ) आदिवासी संघ।
 (इ) परिगणित जाति संघ।
(६) महिला सुधार आन्दोलन।
 (अ) वीमेंस इण्डियन एसोसियेशन (स्थापित सन् १९१७ में)।
 (आ) नेशनल काउन्सिल ऑफ वीमेन इन इण्डिया (सन् १९२५ में स्थापित)।
 (इ) आल इण्डिया वीमेंस कान्फ्रेंस (स्थापित सन् १९२६ में)।
 (ई) कस्तूरबा ट्रस्ट (स्थापित सन् १९४४ में)।
(७) अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा।
(८) सर्वोदय समाज।
(९) इसाई सेवा संस्थायें।
(१०) मुस्लिम सुधार संस्थायें।

महात्मा गांधी का योगदान—ब्रह्म समाज, आर्य समाज आदि अनेक संस्थाओं के द्वारा किए गए समाज सुधार का वर्णन करने के पश्चात् हम उन कार्यों का वर्णन करेंगे जो महात्मा गांधी के नेतृत्व में हमारे देश में चले। वास्तव में भारतीय समाज इतना पतित हो गया था कि सामाजिक आन्दोलन अनिवार्य बन गए। हमारे समाज में अनेक दोष उत्पन्न हो गए थे और उनके फलस्वरूप समस्त गति और उन्नति रुक गई थी। इस प्रकार के अनेक दोष थे जैसे—साम्प्रदायिक ईर्ष्या, जाति व्यवस्था, अस्पृश्यता, वैवाहिक रूढ़ियाँ, स्त्रियों की दुर्दशा, शिक्षा का अभाव, मद्यपान, दलित जातियों की दुर्दशा, भिखारियों की समस्या आदि। इनमें से अनेक दोष तो ऐसे थे

जो तत्कालीन सरकार की उदास नीति के कारण चलते रहे और कुछ दोष अंग्रेजों के अस्तित्व के आधार थे जैसे साम्प्रदायिक विष आदि। महर्षि दयानन्द, महामना मालवीय और महात्मा गांधी ने इसे मिटाने का प्रयत्न किया और वे सफल हुए; किन्तु अंग्रेजों के रहते इस क्षेत्र में पूर्ण सफलता नहीं मिली। अब स्वतन्त्र होने पर यह विष शांत हुआ है। अस्पृश्यता भारत के समाज का बहुत बड़ा दोष रहा है और सदा से ही इसे दूर करने के अनेकों प्रयत्न भी होते रहे हैं। महात्मा गौतमबुद्ध, महावीर स्वामी, स्वामी रामानन्द, कबीर, नानक, संत तुकाराम, एकनाथ, नामदेव आदि सभी संतों ने इसे दूर करने का प्रयत्न किया था। आधुनिक काल में राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द और अन्य लोगों ने भी प्रयत्न किया किन्तु किसी न किसी रूप में यह चलता रहा। बीसवीं शताब्दी में महात्मा गांधी ने हरिजन आन्दोलन चलाकर हिन्दुस्तान के आठ करोड़ अछूतों को गले लगाया। केवल प्रचार ही नहीं किया वरन् क्रियात्मक रूप में हरिजनों के लिए हिन्दू मन्दिरों के द्वार खुलवाए। हिन्दू कुओं और अन्य सामाजिक स्थानों का उपयोग करने का अधिकार दिलवाया। उनके राजनैतिक अधिकार सुरक्षित करवाए और अब व्यवस्थापिकाओं में उनके प्रतिनिधि विद्यमान हैं। हरिजनों की शिक्षा की व्यवस्था करवाई, छात्रवृत्तियाँ और छात्रावास खुलवाए और वैधानिक रूप से अस्पृश्यता अपराध घोषित किया गया। नवीन भारत में कोई अछूत नहीं है। ऐसे विचारों की अभिव्यक्ति भी दण्डनीय है। उन्होंने अखिल भारतीय हरिजन संघ की स्थापना की थी और 'हरिजन' का नया नाम उन्हीं का दिया हुआ है। इस नाम का वे एक पत्र भी प्रकाशित करते थे। इस प्रकार हरिजनों की समस्त उन्नति का अधिक श्रेय गांधी जी को ही है।

बाल विवाह की पद्धति को दूर करने में भी अनेकों प्रयत्न किए गए। अन्त में श्री हरविलास शारदा के प्रयत्नों से राज्य द्वारा सन् १९३० में नियम बना दिया गया जिसे उन्हीं के नाम पर "शारदा एक्ट" कहते हैं। तब से यह कुप्रथा बन्द हुई। अब भी भारत के दूरस्थ ग्रामों में यह प्रथा अत्यन्त अल्पांश में चल रही है। इसी प्रकार पुरुषों में बहु विवाह की प्रथा चल रही थी जिसे अब हिन्दू कोड बिल के द्वारा बंधन में लाया गया है। हिन्दू विधवा स्त्रियों की भी समाज में बड़ी दुर्दशा रही है। पहले जबर्दस्ती चिता में सती के नाम पर जलादी जाती थी फिर जीवन भर एकाकी बिताने के लिए बाध्य रही और समाज की भार बनकर चलती थी। पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने इस ओर विशेष ध्यान दिया। सन् १८५६ में ऐसा नियम भी बना दिया गया। गांधी जी का इस ओर समर्थन रहा है और अब विधवाओं को हर प्रकार की उन्नति के लिए अधिकार प्राप्त हैं, वे नैतिक जीवन व्यतीत कर सकती हैं। परन्तु भारतवर्ष के उच्च वर्णों में अभी भी पुनर्विवाह की प्रथा प्रचलित नहीं हो पाई है। यह दोष चल ही रहा है।

स्त्रियों की दशा सुधारने में गांधी जी ने बहुत योग दिया। यद्यपि राजा राममोहन राय तथा अन्य सुधारकों ने सती प्रथा, पर्दा प्रथा, अशिक्षा, अधिक लज्जा आदि दोष हटाने के यत्न किए तथापि पूरी सफलता नहीं मिली थी। पाश्चात्य देशों

के सम्पर्क से बाद में सामाजिक और राजनैतिक सभी क्षेत्रों में सुधार का कार्य आरम्भ हुआ। श्रीमती सरोजिनी नायडू, सरला देवी, कमला देवी, पं० विजय लक्ष्मी पंडित, इन्दिरा गांधी आदि ने यह कार्य पूरी लगन से शुरू किया। सन् १९१७ में सर्वप्रथम राजनैतिक अधिकारों की माँग की और इनके ऊपर कहे गये अनेक आन्दोलन प्रारम्भ हो गये। सन् ४६ में नवीन संविधान बनाने के लिए जो सभा बनी उसमें दस स्त्रियाँ भी सदस्य बनीं और आज बहुत सी स्त्रियाँ मंत्रिणी, राजदूत, सचिव, कलक्टर, वकील, प्रोफेसर आदि अनेक पदों पर कार्य कर रही हैं।

यही नहीं श्रमिकों की दशा सुधारने में भी गांधी जी ने योग दिया है। अभी तक मार्क्स के प्रभाव में श्रमिक पूंजीपतियों को घृणा की दृष्टि से देखते थे और पूंजीपति श्रमिकों से भयभीत रहते थे। गांधी जी ने 'सर्वोदय' सिद्धान्त देकर और 'ट्रस्टीशिप' के सिद्धान्त के द्वारा समाज में से घृणा का वातावरण दूर किया और प्रेम का साम्राज्य स्थापित किया था।

मुस्लिम सुधार आन्दोलन—हिन्दू समाज की भांति ही मुस्लिम समाज में भी बहुत सी कुरीतियाँ उत्पन्न हो गई थीं। मुस्लिम समाज वैसे भी प्रारम्भ से अनुदार अधिक रहा है और आधुनिक शिक्षा का अभाव भी था। इसके अतिरिक्त यहाँ अधिकांश ऐसे मुसलमान थे जो पहले हिन्दू थे। इसलिए अनेक दोष उत्पन्न हो गए और उनका निवारण करने के लिए मुसलमानों में भी सुधार आन्दोलन हुए। उनमें से मुख्य निम्नलिखित ये हैं:—

(१) **अलीगढ़ आन्दोलन**—यह आन्दोलन सर सय्यद अहमद खाँ ने चलाया था। उनका विश्वास था कि मुस्लिम जगत दो कारणों से पतित होता जा रहा है। पहला यह कि अंग्रेज हमें सन् १८५७ के विद्रोह के लिए उत्तरदायी समझते हैं और हमसे अप्रसन्न हैं और दूसरा यह कि हम लोग रूढ़िवादी और अन्ध विश्वासी हैं और शिक्षा का अभाव है। इन्हीं दोनों त्रुटियों को दूर करने के लिए उन्होंने यह आन्दोलन चलाया था। अंग्रेजों को पूर्ण स्वामिभक्ति का विश्वास दिलाया और सन् १८७५ ई० में अलीगढ़ में ही 'मोहमडन एंग्लो ओरिएण्टल कालेज' की स्थापना का कार्य किया। वही आज यूनिवर्सिटी के रूप में बन गया है।

(२) **वहाबी आन्दोलन**—यह आन्दोलन अरब में चला था। उसी का प्रभाव भारतवर्ष में भी आ गया। इसके नेता श्री सैयद अहमद बेरे ब्रेलवी थे। ये भी अपने समाज को सुधारना चाहते थे। इन्होंने ईश्वर की एकता और उसकी पूजा पर बल दिया और उसे निराकार भी माना। वे पश्चिमी शिक्षा और सभ्यता के विरुद्ध थे और राजनैतिक दृष्टि से पुनः मुस्लिम शासन स्थापित करना चाहते थे। बंगाल में इसका प्रभाव अधिक था। सिखों और अंग्रेजों से वे बहुत लड़े और बाद में अंग्रेजों ने इस आन्दोलन को बुरी तरह दबा दिया था।

(३) **अहमदिया आन्दोलन**—इसके संस्थापक मिर्जा गुलाम अहमद (१८३९–१९०८) थे। ये पंजाब में कादियाना के निवासी थे। वे स्वयं ईश्वर होने का दावा करते थे और इस्लाम धर्म के सुधार के लिए प्रयत्नशील थे। अन्ध विश्वास

का वे खण्डन करते थे ये पुरातन वादी थे और पर्दे, तलाक, वहु विवाह और अन्य प्रथाओं के समर्थक थे। ये ईसा और विष्णु के अवतार भी वनते थे। इनकी मृत्यु के बाद अनुयायियों में फूट पड़ गई, कुछ इन्हें 'नवी' मानते थे और कुछ केवल सुधारक। इनका प्रभाव अधिक नहीं हुआ।

इन सुधार आन्दोलनों के फलस्वरूप मुसलमानों में चेतना और जागृति अवश्य हुई और पश्चिमी शिक्षा का प्रसार भी हुआ।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. भारत के धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों पर निबन्ध लिखिए।
२. आर्य समाज के सिद्धान्त और सफलता पर अपने विचार लिखिए।
३. ब्रह्म समाज आन्दोलन का महत्व और योग समझाकर लिखिए।
४. 'वेदान्त समाज' की स्थापना और सफलता का वर्णन कीजिए।
५. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये:—
   १. महिला सुधार आन्दोलन। २. मुस्लिम सुधार आन्दोलन।
   ३. राधा स्वामी सत्संग। ४. प्रार्थना समाज।

—:o—

उन्नीसवाँ अध्याय

राष्ट्रीय आन्दोलन (१८५७–१९४७)

प्रस्तावना—अंग्रेजों के शासन के पहले भारतवर्ष सोने की चिड़िया कहलाता था। यहाँ धन धान्य के भंडार भरे थे, दूध-घी की नदियाँ बहती थी, चारों ओर समृद्धि थी। शिक्षा, स्वास्थ्य और श्रम का बाहुल्य था। सहयोग और सहकारिता का वातावरण था। वेदों का प्रचार था। परस्पर नागरिक स्नेहमय जीवन व्यतीत करते थे; किन्तु निर्यात का चक्र सदैव गतिमान रहता है। जो देश इतना ऊँचा उठा उसका पतन भी होना था। देश का राष्ट्रीय जीवन अस्त-व्यस्त हो गया। समाज में कुरीतियाँ फैल गई। शासन व्यवस्था डांवाडोल हो गई। खण्ड-खण्ड होकर देश में अनेक राज्य और उपराज्य बन गए। विदेशी लोग देश में घुसने लगे। परस्पर होड़ आरम्भ हुई। फ्रांसीसी, पुर्तगाली और अंग्रेज मुख्य थे। अन्त में अंग्रेजों ने अपना एकदम राज्य स्थापित किया। परन्तु अंग्रेजों के भारत प्रवेश से भारतीय शासकों और सैनिकों को गहरा धक्का लगा और उसी के फलस्वरूप सन् १८५७ की प्रथम क्रान्ति के दर्शन हुए।

ब्रिटिश शासन की स्थापना—दीर्घकाल से भारत अपने व्यवसाय के लिए विख्यात था और यहाँ की वस्तुएँ संसार के बड़े बड़े बाजारों में अच्छे मूल्य पर स्वीकार की जाती थीं। इसलिए अंग्रेज लोगों की भारतवर्ष के साथ व्यापार करने की उत्कण्ठा तीव्र हुई और सन् १६०० में उन्होंने 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के नाम में महारानी एलिजाबेथ से आज्ञा पत्र प्राप्त कर लिया। यहां व्यापार के लिए ही वे वास्तव में आए थे किन्तु स्थानीय शासकों के परस्पर संघर्ष की स्थिति देखकर उन्होंने लाभ उठाया और राजनैतिक सत्ता पर एकाधिकार जमा लिया। अन्य विदेशी लोगों को बलपूर्वक निस्तेज बना दिया और धीरे-धीरे निकाल दिया। सन् १७६५ में कम्पनी को दीवानी अधिकार भी मिल गए और शासन की सत्ता प्राप्त होने लगी। फिर रेग्यूलेटिंग एक्ट, पिट का भारतीय एक्ट और अनेक संसदीय अधिनियम बनते गए और शासन अच्छी तरह जम गया और ब्रिटिश संसद के अधिनियमों से संचलित शासन आरम्भ हो गया।

सन् १८५७ की क्रांति—यद्यपि सन १७५७ से लेकर १८५७ तक सम्पूर्ण भारत अंग्रेजों के प्रभाव में आ गया था, समस्त क्षेत्रों में अंग्रेजों का असर था किन्तु भारतीय अपनी जाती हुई स्वतन्त्रता को खुले नेत्रों से देख और समझ रहे थे। ऐसी स्थिति में अन्य कई ऐसे तत्व उत्पन्न हो गए जो ज्वाला को चैतन्य करने वाले थे और अन्त में 'कारतूस' के आविष्कार ने तो चिनगारी का कार्य करके क्रान्ति की ज्वाला ही धधका दी। इन सभी तत्वों का अध्ययन हम संक्षेप में करेंगे।

राजनैतिक दृष्टि से तत्कालीन सम्राट बहादुरशाह को गद्दी से हटाना, अवध

को अंग्रेजी राज्य में मिलाना, लार्ड डलहौजी की नीति द्वारा संतानहीन शासकों के राज्यों को समाप्त करना (Policy of Lapse), आदि कारण बचे हुए शासकों में भविष्य की दृष्टि से असन्तोष उत्पन्न करने में सहायक हुए और फलस्वरूप तत्कालीन वभावशाली शासक वर्ग पेशवा, नाना साहिब, तांत्या टोपे आदि क्रान्ति का निर्णय लेने के बाध्य हुए। आर्थिक क्षेत्र में कुटीर उद्योग नष्ट हो जाने से बेकारी फैल गई, कृषकों का शोषण होने लगा, कच्चा माल इंगलैंड जाने लगा और भारतवर्ष अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ भी बना सकने योग्य न रहा। ऐसी स्थिति में अंग्रेजों के प्रति अविश्वास का वायुमण्डल बन गया और भलाई के काम भी सन्देहमय दिखाई दिए। सती प्रथा बन्द करना धर्म में हस्तक्षेप माना गया, रेलों का प्रचार धर्मभ्रष्ट करने और छूआछूत को मिटाने का उपाय समझा, पश्चिमी शिक्षा के प्रति अनादर होने लगा और साथ ईसाई धर्म के प्रचार ने सबको ईसाई बनाने की बात की पुष्टि कर दी। इसके अतिरिक्त सेना में गोरे और काले के भेद के साथ पद, रहन-सहन और वेतन का भी भेद होने लगा, बाइबिल का अध्ययन, दाढ़ी मूंछ मुडाना, समुद्र पार जाना आदि जरूरी से बना दिए और फिर कारतूसों का प्रयोग, जो गाय या सूअर की चर्बी से बनाए गए कहे जाते थे और मुंह से खोलने पड़ते थे, उनके द्वारा तो घोर असन्तोष की ज्वाला एकदम भड़क उठी।

१० मई सन् १८५७ को मेरठ के सिपाहियों ने क्रान्ति की थी। जहाँ-जहाँ अंग्रेजी सेनाएँ थीं वहाँ हिन्दुस्तानी सैनिकों ने अवज्ञा शुरू कर दी। जनता सैनिकों के साथ थी और सामन्त वर्ग ने इनका समर्थन किया। मुगल सम्राट बहादुरशाह, पेशवा नाना साहिब, बिहार के कंवरसेन और झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने खुलकर इस क्रान्ति का नेतृत्व किया। बहादुरशाह को पुनः दिल्ली सम्राट घोषित कर दिया। यत्र-तत्र अंग्रेजों को मारकर भारतवासियों ने अपना आधिपत्य जमा लिया। दिल्ली, लखनऊ, कानपुर, मालवा और झाँसी आदि में क्रान्ति का विकट रूप था। राजस्थान में भी कोटा, आहुआ और कुछ दूसरे स्थानों पर भयंकर काण्ड हुए और कुछ समय के लिए स्थानीय अधिकारियों की सत्ता स्थापित हुई; किन्तु फिरंगियों की शक्ति, शस्त्रास्त्र अधिक प्रभावी थे और इससे भी अधिक वे नीति निपुण थे। भारत के इतिहास का उन्होंने अध्ययन ध्यान से किया था। विभीषण, जयचन्द आदि चरित्रों से वे परिचित थे। अतः गोरखा, सिक्ख और कुछ भारतवासी प्राचीन शासकों को अपनी ओर मिलाने में विलम्ब नहीं हुआ। अन्त में संघर्ष समाप्त हो गया। बड़ी कठोरता और निर्दयतापूर्वक भारत में दमन-चक्र चला। क्रान्ति के समस्त सेनानी तित्तर-बित्तर हो गए। अनेकों की जीवन लीला समाप्त हो गई। धोखे से तांत्या टोपे गिरफ्तार करवा दिया और अंग्रेजों ने उसे फाँसी चढ़ा दिया। क्रान्ति सम्बन्धित सभी लोगों को फांसियाँ दीं और अन्य पीड़ाएँ पहुँचाई गईं। यद्यपि क्रांति असफल रही किन्तु इसका प्रभाव बहुत गहरा हुआ। भारत की यही प्रथम क्रांति थी।

इस क्रांति के बाद महारानी विक्टोरिया ने घोषणा की कि हम सब धर्मों को समान समझते हैं और भारतवासियों के हित के लिए शासन चलायेंगे। राजाओं के

राज्य में कम से कम हस्तक्षेप करेंगे और उन्हें गोद लेने का अधिकार भी होगा। तब से इंगलैंड की संसद द्वारा और कम्पनी के स्थान पर सीधा ब्रिटिश सरकार द्वारा शासन संचालित हुआ।

राजनैतिक जागृति—उपरोक्त लहर के बाद देश में जागृति युग आरम्भ हुआ। युवकों ने आतंकवादी और वृद्धों और विचारकों ने संवैधानिक साधनों से अपना राष्ट्रीय कार्य करना आरम्भ किया। लोग देशोद्धार के साधनों पर गम्भीर विचार करने लगे। हिन्दी ने राष्ट्रीय रूप धारण किया। भारतेन्दु ने अंग्रेजों के अत्याचार और देश की दुर्दशा का वर्णन अपने राष्ट्रीय नाटकों में लिखना और प्रदर्शन करना आरम्भ किया। आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, वेदान्त समाज आदि आन्दोलनों ने हमारे विगत वैभव का ज्ञान कराया और राष्ट्रीयता और एकता की नई विचारधाराएँ दीं। बंगाल, संयुक्त प्रांत, बम्बई और मद्रास में धीरे धीरे राजनैतिक संस्थाएँ भी बनने लगीं। अन्य कारणों के साथ इस जागृति में अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव, देशव्यापी एक ही शासन सूत्र हो जाने से एकता का अनुभव, आर्थिक शोषण के संकट ग्रस्त भारतीयों में एक ही आपत्ति का अनुभव, सरकारी उच्च पद प्राप्त न होना, समाचार पत्र एवं साहित्य का विकास, भारतवर्ष में भेद नीति का प्रसार आदि का बहुत बड़ा हाथ रहा है। इसके अतिरिक्त लार्ड लिटन का शासन असन्तोष बढ़ाने में बहुत सहायक हुआ। भारतीय समाचार पत्रों से सम्बन्धित "गलाघोट कानून" (Vernacular Press Act) उसी के समय में बना था। हथियारों के लिए लाइसेंस लेने का नियम भी उसी समय बना और रुई के निर्यात पर से कर भी उठा लिया था ताकि इंगलैंड में सस्ती रूई पहुँचे। साथ ही अच्छे शासकों ने कुछ अच्छे कार्य करके भी इस जागृति में योग दिया। लार्ड रिपन ने अपनी उदारवादी नीति द्वारा यहां स्थानीय स्वशासन की स्थापना की और अनुभव का अवसर दिया। स्वामी दयानन्द सरस्वती यह अपने भाषण में बराबर कहते थे कि सुराज से स्वराज्य सदैव श्रेयस्कर होता है। लार्ड रिपन ने भी कलकत्ता विश्वविद्यालय में चांसलर पद से भाषण देते हुए कहा था कि "वह समय शीघ्र आने वाला है जब भारत का शासन लोकमत द्वारा चलाया जायगा और उसका कोई विरोध नहीं कर सकेगा।" इसी समय हल्बर्ट बिल द्वारा यह स्पष्ट हो गया कि भारतवासियों को अंग्रेजों से भेद रहित न्याय की आकांक्षा करना व्यर्थ है। मिस्टर ह्यूम ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों को खुला पत्र भेजकर एक सर्वतोमुखी संस्था की स्थापना के लिए प्रेरित किया। तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड डफरिन ने इस विचार का समर्थन किया। ऐसे वातावरण में राजनैतिक संस्था की स्थापना अवश्यम्भावी थी।

कांग्रेस का जन्म—उपरोक्त वातावरण में देश व्यापी एक संगठन स्थापित करने का विचार चलता रहा। तारापद बनर्जी, दीवान बहादुर रघुनाथ राव और मिस्टर ह्यूम इस दिशा में सबसे अधिक रुचि ले रहे थे। अनेक छोटी-छोटी प्रादेशिक संगठनों की स्थापनाएँ हो भी चुकी थीं किन्तु बाद में सन् १८८५ में मिस्टर ए०ओ० ह्यूम, जो भारतीय सिविल सर्विस के अवकाश प्राप्त अधिकारी थे, द्वारा भारतीय

कांग्रेस की स्थापना हुई। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड डफरिन इस प्रकार की संस्था का संगठन चाहते थे और इसीलिए उन्होंने मि० ह्यूम से यह विचार प्रकट करते हुए यह कहा था कि उनकी ऐसी भावनाओं को वे उस समय तक गोपनीय रक्खें जब तक लार्ड डफरिन इस पद पर और भारत में हैं। इंगलैंड के प्रमुख नागरिकों की शुभ कामनाएँ एकत्र करने का श्रेय भी श्री ह्यूम को है और इसकी स्थापना के बाद लगभग सन् १८९० तक जहाँ-जहाँ कांग्रेस के अधिवेशन हुए वहीं के गवर्नरों द्वारा आगन्तुकों को प्रीतिभोज या अल्पाहार दिया जाता रहा। सरकारी पदाधिकारी भी इसके सदस्य बनने के लिए स्वतन्त्र रहे। इस प्रकार सन् १८८५ में स्थापित होकर सन् १८९० तक यह संस्था सब लोगों के सहयोग से उन्नति करती गई। प्रथम अधिवेशन पूना में हुआ और देश के विभिन्न भागों से ७२ प्रतिनिधि आए और फिर प्रत्येक अधिवेशन में सदस्यों और प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ती गई।

कांग्रेस में उग्रदल—जब धीरे-धीरे कांग्रेस की प्रगति पूर्णरूपेण राष्ट्रीय मार्ग पर होने लगी तो अंग्रेज समर्थक सावधान होने लगे और इसकी प्रगति में सहायता के स्थान पर बाधाएँ डालने लगे। शासन का व्यवहार कठोर होने लगा। राज्य कर्मचारियों पर सदस्यता के लिए बन्धन लगाए जाने लगे। परन्तु कांग्रेस आगे बढ़ती ही गई। अंग्रेजों का शासन भी धीरे धीरे नए एक्ट बनाकर दृढ़ता ला रहा था। ऐसी स्थिति में कांग्रेस ने अपने अधिवेशनों में शासन की आलोचना आरम्भ की। १८६१ के एक्ट के बाद यहाँ प्रनिनिधित्व प्रणाली को स्थान दिया जा रहा था किन्तु फिर भी १८९२ के लाहौर अधिवेशन में गोखले ने निराशा व्यक्त की। अध्यक्ष दादाभाई नौरोजी ने शान्ति और धैर्य रखने की बात कही और अंग्रेज सदस्यों का भी यही विचार रहा। अभी तक कई अंग्रेज भी कांग्रेस के अध्यक्ष बन चुके थे। परन्तु अब धीरे-धीरे धारणाएँ बदल रही थीं। देश में अकाल और प्लेग का प्रकोप फैलता था, सरकार औपचारिक कार्यवाहियों द्वारा उनके निवारण में लगती थी। दूसरी ओर सम्राट के राज्याभिषेक के हर्ष में दिल्ली दरबार किए जाते थे। ऐसी विरोधी घटनाओं से देश के नवयुवकों में आवेश बढ़ रहा था। आतंकवादी लोग विदेशियों की हत्याएँ करने लगे। सरकार उन्हें फांसी के तख्तों पर चढ़ाने लगी। लाल, बाल और पाल (लाला लाजपतराय, बाल गंगाधर तिलक और विपिन चन्द्रपाल) राष्ट्रीय कांग्रेस में नव-जीवन लाने का प्रयत्न कर रहे थे। उनका नारा था—"हमें कोई दलील, कोई अपील और कोई वकील नहीं चाहिए।" "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम उसे लेकर ही रहेंगे।" लार्ड कर्जन के समय में भारत का वातावरण और भी क्षुब्ध हो गया। उसने नए कठोर कानून बनाए, बंगाल का विभाजन किया और विश्वविद्यालयों में हस्तक्षेप की नीति अपनाई। देश में इन सबका घोर विरोध हुआ। कलकत्ता में बंग भंग रफ आन्दोलन बहुत उग्र हो गया। इसी वर्ष बनारस में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ और गोखले ने अंग्रेजी

सामान के बहिष्कार का साधन अध्यक्ष पद से स्वीकार कर लिया। महामना मालवीय जी ने प्रस्ताव किया और लाला लाजपत राय ने उसका समर्थन किया और कहा कि अब हमें भीख माँग कर ही सन्तोष नहीं करना चाहिए और मुंह ताक कर दया की आशा भी नहीं करनी चाहिए। बहिष्कार का परिणाम यह होगा कि वे यदि व्यापार चाहते हैं तो हमें आजादी देंगे। इसके बाद सन् १९०६ के कलकत्ता अधिवेशन में कांग्रेस में गरम दल और नरम दल बन गए। तिलक और पाल विदेशी सरकार का बहिष्कार चाहते थे और स्वदेशी सरकार की स्थापना भी चाहते थे। दादाभाई नौरोजी अध्यक्ष थे। दूसरा दल जिसमें गोखले का नेतृत्व था, वे शान्ति के साथ आन्दोलन चलाना चाहते थे। बंगाल के अरविन्द घोष आदि भी उग्र विचारधारा के ही समर्थक थे। अगले वर्ष सन् १९०७ में जब सूरत में कांग्रेस अधिवेशन हुआ तब १६०० प्रतिनिधि थे। यहाँ दोनों दल स्पष्ट हो गए। अध्यक्ष पद के लिए निर्वाचन के समय ही विरोध आरम्भ हो गया और शोरगुल होने लगा। सभा विसर्जित करनी पड़ी। नरम दल के नेता मोतीलाल नेहरू, गोखले, लाजपत राय, मालवीय जी, फीरोजशाह मेहता आदि थे।

मुस्लिम लीग—सर सैयद अहमद मुसलमानों की उन्नति चाहते थे और बड़े, कुलीन व्यक्ति थे; किन्तु कांग्रेस के वे घोर विरोधी थे। इसी वजह से अंग्रेजों के आदेशानुसार जब कांग्रेस के अधिवेशन होते थे तब वे उसी समय मुस्लिम शिक्षा सभा का अधिवेशन रखते थे ताकि शिक्षित मुसलमान उधर न जा सकें। उन्हीं की प्रेरणा से सन् १९०६ में मुस्लिम हितों की अलग रक्षा के लिये इन्होंने मुस्लिम लीग की स्थापना की। सन् १८५७ की क्रांति के बाद अंग्रेजों की यह धारणा थी कि मुसलमान ही भारत में अधिक भयंकर लोग हैं जिनसे उन्होंने शासन छीना है। इसलिए उन पर भरोसा भी नहीं था, ऊँचे पद भी उन्हें नहीं दिए जाते थे। इस चीज का अध्ययन करके और अपनी अल्प संख्या और सामर्थ्य का ध्यान कर सर सैयद ने मुसलमानों को पूर्णरूपेण अंग्रेजों का स्वामीभक्त बना दिया और उनकी कृपा का पूर्ण लाभ लिया। इसी उद्देश्य की पूर्ति में मुस्लिम लीग की स्थापना की और यह प्रचार किया कि कांग्रेस हिन्दुओं की संस्था है और लीग मुसलमानों की।

आतंकवाद—बीसवीं सदी के प्रारम्भ में भारत में आतंकवाद का गहरा प्रभाव रहा। बम बनाये जाने लगे, अंग्रेजों की हत्यायें होने लगीं और अंग्रेज लोग भी इस आन्दोलन को कुचलने में कठोरता से काम लेने लगे। बहाने बनाकर कर्मठ कार्यकर्त्ताओं को दण्ड देने लगे। तिलक को छः वर्ष का कारावास, अरविंद घोष को एक वर्ष का नजर कैद, चिदम्बर लई को छः वर्ष का कारावास और हसरत मोहनी को एक वर्ष का कारावास दिया गया। परन्तु आन्दोलन दबने के बजाय और बढ़ा। लार्ड मिन्टो पर किसी भारतीय ने बम फेंका। नासिक के कलक्टर की हत्या कर दी गई। यही नहीं विदेशों में भी ऐसे दल संगठित हो गये जो भारत के इन दलों को शस्त्र, बम और अन्य ऐसी सामग्री भेजते थे। अमरीका में भी ऐसे दल थे। इंगलैंड में श्याम जी कृष्ण वर्मा प्रमुख नेता थे। उनके एक शिष्य मदनलाल धींगड़ा ने इंगलैंड

में लार्ड कर्जन वायली को गोली से मार दिया। भारत में देशव्यापी ऐसे अनेक दल थे, जो शस्त्रास्त्रों के आदान प्रदान में सहयोग करते थे और अपना सम्पूर्ण जीवन ही ऐसे कार्यों के लिये लगा चुके थे। राजस्थान में ठाकुर केसरीसिंह जी बारहठ, उनके भाई जोरावरसिंह जी और पुत्र प्रताप ने इस क्षेत्र में अद्‌भुत सेवायें की हैं। जोरावरसिंह जी जीवन भर गुप्त रहकर ही यह कार्य करते रहे और कुंवर प्रताप अल्प आयु में ही एक मित्र के धोखे के कारण पकड़े गये और उन्हें फांसी दे दी गई। इस प्रकार भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये अदम्य उत्साह और साहसपूर्ण कार्यवाहियों द्वारा आतंकवादी दल भी अन्त समय तक अपने मार्ग पर डटा रहा।

हिन्दू मुस्लिम एकता—यद्यपि भारतवर्ष में हिन्दू मुस्लिम भेद का कभी कोई अस्तित्व नहीं रहा। मुगल सम्राटों की ज्यादतियों के बाद अपने स्वाभावानुसार भारतीय लोग हिल मिलकर रहने लगे थे और सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और धार्मिक क्षेत्र में पूर्णरूप से भारतीयता स्थापित हो गई थी। ऐसा लगता था जैसे हिन्दुओं में अनेक जातियाँ हैं ऐसे ही एक और जाति मुसलमान भी है, जैसे अन्य अनेक धर्म हिन्दुस्तान में हैं उसी प्रकार मुसलमान धर्म भी है। डा० राजेन्द्र प्रसाद ने "खण्डित भारत" में यह सब तथ्य प्रमाण सहित स्पष्ट किये हैं। किन्तु फिर भी अंग्रेजों की भेद नीति सफल रही और कांग्रेस को हिन्दुओं की संस्था बनाकर मुसलमानों से मुस्लिम लीग की पृथक स्थापना करवा दी। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि कुछ लोग इतने समझदार भी होते हैं कि जो हर चाल को पहचानते हैं इसलिये उनके प्रयत्नों से कभी कभी ठीक कार्य भी हो जाते हैं। सन् १९१६ में इसी कारण कांग्रेस और लीग में समझौता हो गया और जातीय प्रतिनिधित्व सदैव के लिये स्वीकार कर लिया। इस प्रकार सन् १९२३ तक इन्होंने कांग्रेस का साथ दिया।

देश के राजनैतिक दलों में एकता—यह ऐसा समय था जब देश में राजनैतिक एकता स्थापित हो रही थी। जब मुस्लिम लीग और कांग्रेस में समझौता हुआ तो कांग्रेस के नरम और गरम दल में भी समझौता हो गया। इसके कारण सरकार को चिन्ता होने लगी और वह मधुर आश्वासन देने लगी। यह प्रथम विश्वयुद्ध के समय की बात है। इसलिए सरकार के पास सभी संस्थाओं के सदस्यों ने युद्ध के बाद भारतीय समस्या हल करने के सम्बन्ध में प्रस्ताव भेजा। श्री निवास शास्त्री, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, जिन्ना आदि उन उन्नीस सदस्यों में थे, जिन्होंने यह प्रस्ताव तैयार किया था। इस प्रकार सन् १९२० तक यह स्थिति चलती रही और उसके बाद जब महात्मा गांधी ने भारत की राजनीति में प्रवेश किया तब देश के नेतृत्व का भार उन पर आ गया।

गांधी युग का आरम्भ—हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी (मोहनदास कर्मचन्द गांधी) सन् १९२० में हिन्दुस्तान आए। इससे पूर्व इंगलैंड से बैरिस्टर की उपाधि प्राप्त करके वे सन् १८९३ में दक्षिण अफ्रीका चले गये थे और सन् १९१४ तक वहीं ठहरे। वहाँ गए हुये भारतीय नागरिकों के प्रति जो रंगभेद नीति चल रही थी उसके

विरुद्ध अधिकारों की रक्षा के लिये बहुत संघर्ष और क्रांति की। सर्वप्रथम वहीं सत्याग्रह का प्रयोग किया और विश्व में प्रसिद्धि प्राप्त की। उस समय असहयोग ही उनका शस्त्र और सत्य एवं अहिंसा ही उनके नारे थे। इस क्रांति के फलस्वरूप जनरल स्मट्स ने उनके साथ समझौता भी किया था किन्तु वह व्यवहार में नहीं लाया गया। महात्मा जी ने भारतवर्ष में आकर उसी अनुभव के द्वारा यहाँ आन्दोलन आरम्भ किया और देश को नया साधन और नवीन शक्ति प्रदान की। सन् १९२० से लेकर १९४७ तक का राष्ट्रीय आन्दोलन उन्हीं के नेतृत्व में संचालित हुआ इसलिये इस युग को गांधी युग कहा जाता है।

प्रथम विश्व युद्ध (१९१४–१९१८) के बाद ब्रिटिश सरकार ने क्रमशः भारत को स्वतन्त्र करने की घोषणा की और कुछ कार्य भी इस दिशा में आरम्भ हुआ; किन्तु इस समय तक भारत में राष्ट्रीय जाग्रति बहुत हो चुकी थी इसलिए इतने से सुधार और सारहीन आश्वासन देश में सन्तोष स्थापित करने में असमर्थ रहे। दूसरी ओर सरकार अनेक दमनकारी नियमों की सहायता से इस उठती हुई क्रांति को समाप्त करने में भी सचेष्ट थी। रौलट एक्ट द्वारा, किसी भी देशभक्त को केवल सन्देह के आधार पर ही दण्डित करने के अधिकार प्राप्त कर लिये गये और कई उदार नेताओं को दण्डित भी कर दिया। इससे वातावरण क्षुब्ध होने लगा। लाला लाजपतराय ने इस कानून की कड़ी आलोचना की, परन्तु सरकार के कान पर जूं तक न रेंगी। ऐसी स्थिति में गाँधी जी ने देशव्यापी आन्दोलन आरम्भ किया और स्वयं उसका नेतृत्व करने लगे। समस्त देश में इस नियम के विरुद्ध हड़तालें हुई, प्रदर्शन किये गये। सरकार ने यह आन्दोलन कुचलना चाहा और घोर दमन चक्र चलाया। इस आन्दोलन का अति उग्र रूप पंजाब में प्रकट हुआ। अमृतसर के जलियाँ वाले बाग में विराट सभा हुई। धारा १४४ लागू होते हुए भी करीब २०,००० व्यक्ति एकत्रित हुए और सभा संचालित हुई; किन्तु अंग्रेजों की नृशंसता अन्तिम सीमा पर थी। जनरल डायर नामक एक फौज की टुकड़ी लेकर पहुँचा और बिना किसी प्रकार की चेतावनी दिए मुख्य द्वार पर, जो कि एक मात्र आने जाने का मार्ग था मशीन गनें लगाकर गोली चलाना आरम्भ कर दिया। फलस्वरूप लगभग ३७९ व्यक्तियों की मृत्यु हुई और १२०० व्यक्ति घायल हुए। यदि उस सैनिक टुकड़ी के कारतूस समाप्त न हुए होते तो पता नहीं और कितना अनर्थ होता। इस हत्याकाण्ड ने देश की आंखें खोल दीं और आबालवृद्ध एक स्वर से अंग्रेजों का विरोध करने लगे। यह उग्र आन्दोलन का श्रीगणेश था। मुसलमानों के विरुद्ध टर्की में भी अंग्रेज ऐसा ही व्यवहार कर रहे थे इसलिए यहाँ के मुसलमान भी अंग्रेजों का विरोध करने लगे। इस समय गांधी जी ने आन्दोलन को अपने हाथ में लेकर नई दिशा प्रदर्शित की।

असहयोग आन्दोलन—सन् १९२० के कलकत्ता अधिवेशन में गाँधी जी ने कांग्रेस के समक्ष ब्रिटिश सत्ता के साथ असहयोग करने की योजना रक्खी और बहुमत से यह स्वीकार कर ली गई। सन् १९१९ के विधान के प्रति असन्तोष प्रकट किया

और धीरे-धीरे असहयोग की भावना प्रबल होती गई। विद्यार्थी वर्ग गांधी जी का अनुयायी बन गया और नागरिकों ने ब्रिटिश उपाधियाँ जला दीं, वकालत छोड़ दी, स्वदेशी चीजों का सम्मान बढ़ा और जेल जाना गौरव की बात समझी जाने लगी। सन् १९२१ में इंगलैंड के महाराजकुमार भारत आये किन्तु उनका स्वागत भी हड़तालों द्वारा ही हुआ। धीरे-धीरे यह आन्दोलन उग्र रूप लेकर हिंसात्मक कार्यों पर उतरने लगा। जन-समूह आवेश में अनुचित शक्ति प्रयोग करने लगा, चोरी-चौरा आदि स्थानों में भीड़ ने पुलिस के लगभग २०–२१ आदमी जिन्दा जला दिए। ऐसी घटनाओं से गाँधी जी ने यह आन्दोलन स्थगित कर दिया। सरकार ने गाँधी जी को ६ वर्ष का कारावास दिया।

आन्दोलन स्थगित होने पर बहुत निराशा फैली। कुछ नेता कांग्रेस से अलग हो गये। श्री मुहम्मदअली जिन्ना मुस्लिम लीग में और दामोदर सावरकर हिन्दू महासभा में चले गये। कुछ नेता लीग शांतिमय साधनों से सरकार के कामों में अवरोध उत्पन्न करना चाहते थे। श्री मोतीलाल नेहरु, बिठ्ठल भाई पटेल और श्री चितरंजनदास इनमें मुख्य थे। इन लोगों ने 'स्वराज्य पार्टी' की स्थापना की और सन् १९२३ में अपना कार्यक्रम आरम्भ कर दिया। सभा प्रवेश कर इन लोगों ने सरकार के कार्य में बाधा उत्पन्न करनी चाही किन्तु सफलता नहीं मिली। धीरे-धीरे देश में और अनेक संगठन उत्पन्न हुए। श्रमिकों का ट्रेड यूनियन बनाया गया। सन् १९१९ के विधान के अनुसार १० वर्ष बाद विधान की सफलता का अनुमान लगाने के लिए आयोग की व्यवस्था की गई थी। तदनुसार सन् १९२९ में सर साइमन की अध्यक्षता में एक आयोग भारतवर्ष आया। किन्तु वातावरण अशान्त होने के कारण "वापस जाओ" के नाद द्वारा इस आयोग का स्वागत हुआ।

इन घटनाओं से देश में राष्ट्रीय भावना उत्तरोत्तर बढ़ती गई और पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने का विचार बलवान होता गया। सन् १९२९ के लाहौर अधिवेशन में इस सम्बन्ध का प्रस्ताव भी पारित कर लिया गया और २६ जनवरी सन् १९३० को रावी नदी के तट पर कांग्रेस ने और समस्त देश ने अपने अपने यहाँ स्वाधीनता की प्रतिज्ञा की। उसी की स्मृति में हमारा नया संविधान २६ जनवरी को ही स्वीकार करके 'गणतन्त्र दिवस' के नाम पर यह दिवस सदा के लिए चिर-स्मरणीय बनाया गया है। इसके पश्चात् गांधी जी ने नमक कानून भंग किया। फिर गोल मेज सभायें हुईं। साम्प्रदायिक प्रश्न पर गांधी जी ने डटकर मोर्चा लिया। ब्रिटिश सरकार अछूतों को हिन्दुओं से पृथक कर अपनी "विभाजित करो और शासन करो" नीति का पालन करना चाहती थी। साम्प्रदायिक पंचाट (Communal Award) द्वारा यही घोषणा की गई। इस पर गांधी जी ने अपने प्राणों की बाजी लगादी। अन्त में सरकार को झुकना पड़ा और प्रसिद्ध 'पूना समझौता' हुआ।

धीरे-धीरे ब्रिटिश सरकार को यह विश्वास होने लगा कि अब भारतवासियों को कुछ सत्ता हस्तान्तरित किये बिना काम चलेगा नहीं। इसलिए सन् १९३५ में नवीन विधान स्वीकार किया और भारतीय संघ की स्थापना का प्रस्ताव रक्खा।

प्रांतों में स्वाधीनता देना स्वीकार किया। यद्यपि सम्पूर्ण विधान राष्ट्रीय नेताओं को रूचिकर नहीं हुआ किन्तु फिर भी प्रान्तीय भाग अपनाने के लिए सहमत हो गये। सन् १६३७ में देश में निर्वाचन हुआ। ११ में से ८ प्रांतों में कांग्रेस को बहुमत मिला। मंत्रिमण्डल बनाये गये और स्वशासन आरम्भ हुआ। किन्तु कुछ समय बाद सन् १६३६ में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ और ब्रिटिश सरकार ने स्वेच्छा से ही भारत को युद्ध में लगा दिया। इसके विरोध में मंत्रिमण्डलों ने त्याग पत्र दे दिये और पुनः आन्दोलन आरम्भ हुआ। चर्चिल ने सर स्टेफर्ड क्रिप्स को भारतवर्ष भेजा और सहयोग के लिए प्रार्थना की। अपने साथ लाई हुई योजना भी उन्होंने प्रस्तुत की, जिसे "क्रिप्स योजना" कहते हैं। परन्तु यह सफल नहीं हुई।

"भारत छोड़ो" आन्दोलन—भारतवर्ष के समस्त राजनैतिक दलों ने क्रिप्स योजना को ठुकरा दिया। वास्तव में वह योजना अनेक दोषों से पूर्ण थी और तत्काल उपयोग में आने वाली बात का उसमें सर्वथा अभाव था। समस्त आश्वासन भविष्य के लिये दिये गये थे। अतः देश में असन्तोष बढ़ता ही गया, वातावरण क्षुब्ध हो गया। कांग्रेस कार्य समिति ने अन्त में एक प्रस्ताव पास किया कि ब्रिटिश गवर्नमेंट से भारत छोड़ने का आग्रह किया जाय। इसे "भारत छोड़ो" प्रस्ताव कहते हैं। ८ अगस्त सन् १६४२ को बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने भी यह प्रस्ताव स्वीकार कर दिया। गांधी जी ने "करो या मरो" का सिद्धान्त प्रचारित किया। फलतः ब्रिटिश सरकार का दमन चक्र पुनः घूम उठा। उसी रात्रि को कांग्रेस के प्रमुख सभी नेता बन्दी बना लिए गये और अज्ञात स्थानों को भेज दिए गये। अनेक नेता लुप्त हो गये और ६ अगस्त के प्रातःकाल देश भर में नेतृत्व के अभाव में अन्धकार छा गया। किन्तु देश के भीतर आन्दोलन की प्रचण्ड अग्नि धधक उठी। सरकार अत्याचार और नृशंसता पूर्वक दमन में लगी और देश के आबाल वृद्ध नर-नारी सरकार को उखाड़ने में। लाठियाँ और गोलियां चलीं, सैंकड़ों भारतीय बन्दी बनाये गये। किन्तु भारतीय नागरिकों ने भी रेल की पटरियां उखाड़ीं, तार टेलीफोन काट दिए, दफ्तरों में आग लगा दी और शक्ति प्रयोग द्वारा कई स्थानों पर सत्ता स्थापित कर ली। बाबू जयप्रकाश, डा० लोहिया, अरुणा आसफअली, श्रीमती सुचेता कृपलानी आदि इस आन्दोलन के प्रमुख नेता थे। राजस्थान में सबसे अधिक आन्दोलन कोटा में हुआ। ३ दिवस तक समस्त नगर पर जनता का आधिपत्य रहा और पूर्ण स्वाधीनता का उपभोग किया गया। किन्तु बाद में सरकार ने शक्ति प्रयोग द्वारा पुनः शासन व्यवस्था जमा ली। गांवों पर सामूहिक अर्थ दण्ड किये और अन्य अनेक अत्यचारों द्वारा सारा आन्दोलन दबा दिया। किन्तु यह केवल ऊपरी शांति थी। भीतर से ज्वाला निरन्तर प्रज्वलित होती रही।

इसके पश्चात् शिमला कांफ्रेंस हुई, केबीनेट मिशन योजना प्रस्तुत की गई। किन्तु जब अंग्रेजों ने देखा कि अब भारतवर्ष में पुलिस, सेना आदि सब राष्ट्रीय भावना से ओत प्रोत हो गई हैं और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति भी उनके पक्ष में नहीं है तब अपनी उदारता वृत्ति, और प्रजातांत्रिक परम्पराओं से प्रभावित होकर उन्होंने

घोषणा की कि जून सन् ४८ तक वे अपनी सत्ता भारत से हटा लेंगे। अन्त में १४ अगस्त सन् १९४७ की अर्ध रात्रि को अखण्ड भारत के दो भाग भारत और पाकिस्तान दोनों स्वतन्त्र उपनिवेश राज्य बन गये। देश का विभाजन अत्यन्त खेद जनक रहा किन्तु और कोई रास्ता न होने की स्थिति में यह विष घूंट स्वीकार करना पड़ा।

स्वतन्त्र भारत—गांधी जी ने अनेक बार कहा था कि मैं स्वतंत्र भारत में ही मरूँगा। १४ अगस्त सन् ४७ को भारत स्वतन्त्र हुआ और ३० जनवरी सन् १९४८ को गोडसे नाथूराम ने गांधी जी की हत्या कर दी। संसार भर में उस दिन शोक का साम्राज्य छा गया। अपने कठोर परिश्रम, अद्वितीय त्याग और तपस्या तथा विलक्षण नेतृत्व द्वारा देश को पराधीनता से स्वतन्त्रता की ओर लाये थे किन्तु वे ही अधिक समय इस स्वतन्त्र भारत का स्वरूप नहीं निहार सके, यह भारत का ही दुर्भाग्य था। उन्हें राष्ट्रपिता के रूप में स्वीकार कर हमारी सरकार ने उन्हें यथोचित स्थान दिया है। अनेक रूपों में देश उनका ऋणी है। जीवन की सादगी, स्वाभिमान, स्त्रियों की समानता, जाति पांति से मुक्ति, गौरक्षा का महत्त्व, अछूतोद्धार, भगवान में आस्था आदि अनेक प्रशंसनीय कार्य गांधी जी ने किये हैं। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने सर्वप्रथम उन्हें महात्मा कहा था और तब से वे महात्मा के रूप में ही सर्वत्र माने जाने लगे। वास्तव में ऐसा ही व्यक्तित्व हमारे राष्ट्रपिता के पद के योग्य था। भारतवर्ष जैसे बुद्ध, अशोक आदि का नाम गौरव से लेता है, आने वाली पीढ़ियां भी गांधी जी को उसी प्रकार सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान करती रहेंगी।

देश की स्वतन्त्रता के पश्चात् लाखों व्यक्तियों के आवागमन से नई समस्यायें उत्पन्न हुई। सुरक्षापूर्वक उनका लाना और फिर यहाँ बसाना एक संकटमय कार्य था किन्तु बड़े साहस के साथ हमारे देश ने उसे पूरा किया। नवीन गणतंत्रात्मक विधान का निर्माण और अनेक प्रकार के देशी राज्यों की समस्या का निपटारा भी एक गम्भीर प्रश्न था। इसके बाद खाद्य संकट का सामना करना पड़ा। पं० नेहरु के सुयोग्य नेतृत्व में देश ने अनेक आपत्तियों का सामना करते हुए भी नवीन योजनाओं के अनुसार देश को हर प्रकार से सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों में उन्नत बना दिया और अब अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अपना प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया है। भाखरा, नांगल आदि अनेक जल-विद्युत योजनायें, चितरंजन आदि कारखाने सामुदायिक योजनायें और विस्तार सेवा खण्डों के संगठन द्वारा देश का सारा चित्र सुन्दर बनाने में व्यस्त है। इन सभी चीजों के साथ नवीन प्रयोग भी निरन्तर चल रहे हैं। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का नवीनतम अध्याय अभी ही प्रारम्भ हुआ है। राजस्थान इस क्षेत्र में अग्रणी बना है। यह हर्ष का विषय है कि हमारी सरकार ने इसमें अप्रत्याशित सफलता प्राप्त की है और अब समस्त देश में राजस्थान ही इस क्षेत्र का नेतृत्व करने योग्य बन गया है।

इसी प्रकार अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी 'पंचशील' और सह अस्तित्व के सिद्धान्तों द्वारा अनुपम आदर्श की स्थापना की है और आन्तरिक और बाह्य दोनों क्षेत्रों में

भारतवर्ष ने अपना सम्मान स्थापित कर सफलता प्राप्त की है। अब आगे भारतवर्ष किस सीमा तक उन्नति करता है यह इसके नागरिकों के परिश्रम और योग्यता पर निर्भर है। अभी तक की प्रगति तो संतोषजनक है। भविष्य का प्रश्न एक कठिन समस्या है। किन्तु फिर भी आशा है कि हमारा देश परम्पराओं और विश्वास के आधार पर चलता है इसलिए भविष्य भी उज्ज्वल होगा, यही मानकर चलना चाहिए।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. प्रथम क्रांति भारत में किस प्रकार हुई ? उसके क्या कारण थे ? लिखिए।

२. भारत की राष्ट्रीय जाग्रति के लिए कौन-कौन से तत्व उत्तरदायी हैं, लिखिए।

३. भारतवर्ष में सन् १८८५ से लेकर सन् १९२० तक के राष्ट्रीय जागरण का इतिहास लिखिए।

४. 'गांधी युग' किसे कहते हैं ? इस युग का वर्णन कीजिये।

५. "भारत छोड़ो" आन्दोलन का प्रभाव और महत्व बतलाइये।

—: ० :—